प्रतिनिधि कहानियां

(हिन्दी विश्वविद्यालय की मध्यमा परीक्षा के पाठ्यक्रम में स्वीकृत)

सम्पादक
श्री [illegible] वाजपेयी



२०११
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

द्वितीय संस्करण ३०००
मूल्य १।)

मुद्रक—सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

प्रस्तुत कहानी-संग्रह में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकारों की सुन्दर रचनाओं का संकलन किया गया है। इसके सम्पादक श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी हिन्दी के एक लब्धप्रतिष्ठ कहानी लेखक हैं। वाजपेयीजी ने इस संग्रह का सुरुचिपूर्ण ढंग से संकलन किया है। साथ ही कहानी-साहित्य पर एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी दी है। हमारा विश्वास है, प्रस्तुत संग्रह से परीक्षार्थियों को समुचित लाभ होगा।

नागपंचमी, २०१०

—साहित्य मन्त्री



विषय-सूची

कहानी की कथा

(१)

रिचर्ड वर्टन क. कथन है—"कहानी संसार की सबसे पुरानी वस्तु है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि इसका प्रारम्भ उसी समय से हुआ हो, जब मनुष्य ने घुटनों के बल चलना सीखा था।"

तात्पर्य्य यह कि कहानी का जन्म हुए सैकड़ों युग बीत गये। मनुष्य ने समाज बनाया, समाज ने अपनी सुविधा के लिए कुछ नीतियाँ और रीतियाँ स्थिर कीं, जिनसे मनुष्य के संस्कार बने और फिर कालान्तर में उन्होंने एक सभ्यता का रूप ग्रहण कर लिया। सभ्यताओं ने करवटें लीं, तो मानवी संस्कारों को नया जीवन मिला। युग-पर-युग बीतते चले गये। मनुष्य ने जब घुटनों के बल चलना सीखा था, तब भी वह कहानी कह रहा था। आज जब वह वायुयान पर बैठ कर घूमता है, तब भी—उससे उतरते क्षण—एक कहानी कहता है। यह बात दूसरी है कि सभी मिलनेवाले उसकी कहानी सुन न पायें। न केवल एक कहानी के लिए, वरन् अन्य प्रकार की साहित्य-कलाओं के लिए भी, न्यूनाधिक रूप में यही बात कही जा सकती है।

मनुष्य-शरीर में आँखें सब के होती हैं, हृदय भी सब के होता है। पर ऐसे कितने व्यक्ति होते हैं जो किसी मार्ग पर चलते-चलते कहीं यकायक इसलिए रुक जाते हैं कि आगे चींटियों का जो दल दहिने से बायें चला जा रहा है, उनके अगले पद-क्षेप से उसके दस-बीस श्रमजीवी कहीं कुचलकर मर न जायँ! सभी व्यक्तियों की रुचि एक-सी नहीं होती, न सभी व्यक्ति समान रूप से भावनाशील होते हैं। इसीलिए इस जगत-सृष्टि

में निरन्तर जो बातें हम सुनते, जो दृश्य अपनी आँखों से देखते हैं, उन सबको न विशेष रूप से हृदयंगम कर पाते हैं, न उनमें निहित साहित्य-कला के मूलाधारों से लाभान्वित ही होते हैं।

एक दिन की बात है, हाथार्न और लांगफ़ेलो भोजन कर रहे थे। संयोग से उनके मित्र जेम्सफ़ील्ड भी उसमें सम्मिलित थे। वार्तालाप के बीच उन्होंने कहीं कह दिया—"देखो, मैं कितने दिन से हाथार्न से, एक आर्केडियन दन्त-कथा के आधार पर, कहानी लिखने का अनुरोध कर रहा हूँ। पर इनसे लिखा ही नहीं जाता।"

लांगफ़ेलो ने मुसकराते हुए पूछा—"कथानक क्या है?"

जेम्सफ़ील्ड ने उत्तर दिया—"मुझे तो कथानक बड़ा ही मर्मस्पर्शी जान पड़ता है। आर्केडियन लोगों की भागदौड़ में कहीं एक लड़की अपने प्रेमी से छूट गयी। परिणाम यह हुआ कि उसने अपना समस्त जीवन उस प्रेमी की खोज में व्यतीत कर दिया! अन्त में प्रेमी तो उसे नहीं मिला, किन्तु वह लड़की उस प्रेमी को एक अस्पताल में मिल गयी।...पर उस समय. जब वह मृत्यु शय्या पर पड़ी हुई थी!"

कथानक सुनकर लांगफ़ेलो के आश्चर्य की सीमा न रही! प्रेरणा के आग्रह से तत्काल उनके मुँह से निकल पड़ा—"अगर तुम्हारा विचार इस कथानक के आधार पर कहानी लिखने का न हो तो मैं कविता लिख डालूँ।"

हाथार्न ने तुरन्त अनुमति दे दी। लांगफ़ेलो का प्रसिद्ध काव्य 'इवेंजेलिन' इसी कथानक के अवलम्ब की रचना है।

× × ×

कहानी की सर्वसम्मत परिभाषा लिखना दुष्कर है। यों तो साधारण रूप से यह समस्त जगत् ही भिन्न रुचियों से निर्मित हुआ है; किन्तु जीवन की आधारभूत वृत्तियों में इतनी रुचि-भिन्नता प्रायः कम ही देखने को मिलती है जितनी कला के क्षेत्र में। डॉक्टर जानसन तो वैज्ञानिक बात में भी कलाकार की-सी भाषा का प्रयोग कर बैठते थे। यथा—"हम जानते हैं कि प्रकाश क्या वस्तु है; किन्तु हममें से कोई यह नहीं बता सकता

कि वह क्या है और कैसा है।" कविता के सम्बन्ध में भी ठीक कुछ इसी प्रकार की सम्मति कालरिज की है। यथा—"कविता का पूरा-पूरा रस तभी मिलता है, जब वह भली-भांति समझ में नहीं आती।"

कहानी के विषय में भी विश्वविख्यात लेखकों के मत भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। यथा—

मिस्टर फोरस्टर—कहानी परस्पर सम्बद्ध घटनाओं का वह क्रम है जो किसी परिणाम पर पहुँचाता है।

फोरस्टर महोदय की यह परिभाषा तो कुछ समझ में आती है। पर किसी भी क्रम को कहानी कहना वाक्-शैथिल्य प्रकट करना है।

अब ह्यूबाकर महोदय का मत देखिये।

आप कहते हैं—"जो कुछ मनुष्य करे, वही कहानी है।" जो कुछ मनुष्य न करे या न कर पाये, लाख चेष्टा करने पर भी, किसी तरह न कर पाये, प्रश्न यह है कि वह कहानी क्यों नहीं है?

एडगर एलन पो का कथन है—कहानी एक प्रकार का वर्णनात्मक गद्य है, जिसके पढ़ने में आध घंटे से लेकर एक घंटे का समय लगता है। अर्थात् एक बैठक में जो पूर्ण रूप से पढ़ा जा सके, वहीक हानी है।

यह परिभाषा भी कम अस्पष्ट नहीं है। 'कहानी एक प्रकार का वर्णनात्मक गद्य है' कथन में यह बात छिपी रह जाती है कि जिसे वे 'एक प्रकार का' वर्णनात्मक गद्य कहते हैं, वह वास्तव में किस प्रकार का है। और घंटे-आध घंटे का समय निर्धारित कर देने से परिभाषा के स्पष्टीकरण में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

परन्तु अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि कथाकार यदि प्रवीण और कलाकुशल है तो वह अपनी कहानी में पहले कोई घटनाचक्र देकर फिर उसमें अपने विचारों की कड़ियाँ डाल देने में गलती कभी न करेगा। वह सतर्कता से अपने लक्ष्य और प्रभाव की कल्पना करेगा, उसके बाद वह घटनाओं की रचना और कथानक की संयोजना इस ढंग से करेगा कि उसका लक्ष्य और प्रभाव सर्वाधिक सफलता व्यंजित करने में समर्थ हो।

एडगर एलन पो महोदय अंगरेजी कथा-साहित्य के आदि निर्माता माने जाते हैं। कहानी-लेखन के साथ-साथ उन्होंने कथा-निरूपण के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त और विचार भी सुन्दर ढंग से व्यक्त किये हैं। उनके कथनानुसार पाठकों की भावना तथा बुद्धि को स्पर्श करना लेखक के लिए आवश्यक है; पर प्रभाव की एकता का निर्वाह तो उसके लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। वह घटनाओं का तारतम्य उपस्थित करे, वह चरित्र निर्माण का ऐसा आदर्श ग्रहण करे, जो अभीष्ट प्राप्ति में सहायक हो, पर उसमें भरती का एक शब्द न होना चाहिए।

वालपोल का कथन है—"कहानी में घटनाओं का ब्यौरा होना चाहिए। कहानी घटना-दुर्घटना संकुल हो, उसकी गति तीव्र हो, उसका विकास अप्रत्याशित हो। उसे दुविधा के माध्यम से संकट की परिणति की ओर अग्रसर होना चाहिए। कहानी की स्थिति उस घुड़दौड़ की भांति है जिसका प्रारम्भ और अन्त ही महत्वपूर्ण होता है।"

जैक लण्डन का मत है—कहानी मूर्त, सम्बद्ध, त्वरागुणमयी, सजीव तथा रुचिकर होनी चाहिए।

जे० बी० ईसनवीन ने लिखा है—प्रभाव की एकता, कथानक की श्रेष्ठता, घटना की प्रधानता, एक प्रधान पात्र और किसी एक समस्या का समाधान—कहानी में ये पांच गुण होने चाहिए।...कथानक में घटनाओं का तारतम्य, तीव्रता, घटना में सम्भाव्य प्रकृति, कोई एक नाटकीय प्रसंग, दुविधा और उत्सुकता होनी आवश्यक है।

बेरी पेन का मत है—उपन्यास एक तृप्ति और निराकरण है और कहानी एक प्रोत्साहन और उत्तेजन। इसी भाव को हम इसी प्रकार भी कह सकते हैं कि उपन्यासकार यदि विश्लेषक है तो कहानीकार संश्लेषक।

हडसन का कथन है—कहानी में चरित्र व्यक्त होता है और उपन्यास में विकसित।

प्रेमचन्द जी का कथन उपर्युक्त कथनों से कितना मिलता-जुलता है। उन्होंने कहा था—"कहानी एक ऐसा उद्यान नहीं जिसमें भांति-भांति

के फूल बेल-बूटे सजे हुए हैं; बल्कि एक गमला है, जिसमें एक ही गमले का माधुर्य्य अपने समुन्नत रूप से दृष्टिगोचर होता है।"

स्टीवेंसन का मत है—कहानी जीवन भर की प्रतिनिधि नहीं, उसकी कुछ दिशाओं का ही वर्णन है। लघुकथा पहले कथा है, उसके बाद लघु, जैसा कि उसके अर्थ से व्यक्त होता है। यह समझ लेना अनुचित होगा कि वह एक संक्षिप्त उपन्यास होती है। लघुकथा में यद्यपि नाटकीय गुण होता है तथापि यह समझ लेना भी अनुचित होगा कि वह नाटक के विविध भेदों में से एक है। वह निर्दिष्ट क्रिया के किसी अंश विशेष को ही व्यक्त करती है। वह जीवन का कोई ऐसा प्रसंग उपस्थित करती है जो उसकी किसी एक परिस्थिति, अनुभूति अथवा घटना की नाटकीयता से, उसके सम्पूर्ण जीवन की एकरसता और परिपूर्णता की छाप पाठक के मन पर डाल देती है।

× × ×

कल्पना की एकनिष्ठ प्राणमयता केवल कहानी में नहीं, व्यापक रूप से सम्पूर्ण साहित्य के मौलिक आधार रूप में स्वीकार की जाती है। आज हम जीवन का जो भी रूप देखते हैं; निश्चित रूप से एक दिन वह केवल कल्पना रही होगी। मनुष्य के जन्म को ही सत्य रूप बाद में मिला, पहले वह केवल कल्पना रहा होगा। कल्पना सत्य के कितने निकट होती है, इस बात पर प्रायः कम विचार किया जाता है। और कहानी के विषय में तो साधारण जन-समुदाय की यह एक एकान्त मान्यता-सी बन गयी है कि उसकी सारी बातें 'मनगढ़न्त' होती हैं। विचार करके देखा जाय, तो यह धारणा बड़ी भ्रामक है। केवल कला और साहित्य के आँगन में नहीं, जीवन के निखिल व्यापक चिरन्तन सत्य में भी कल्पना का अपना एक मौलिक स्थान है। जो कार्य हम निरन्तर किया करते हैं, क्रिया का रूप तो उसे बाद में प्राप्त होता है, पर कल्पना हमारे मन में उसकी पहले से पहले हो जाती है। हम घर से चलते बाद को हैं, पहले निर्दिष्ट कार्य के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार की बातें, संकल्प और उनके ऊहापोह सोचते हैं, उनके सबके मूल में

केवल एक कल्पना होती । यहां तक कि मनोमंथन की सृष्टि ही कल्पना के आधार पर होती है।

कहानी के मूल तत्त्वों पर विचार करते समय अभी हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि कथा में कोई एक घटना रहती है। अब यहां प्रश्न यह उठता है यदि वास्तव में कोई घटना कहीं हो गयी हो और उसका यथा-तथ्य वर्णन कर दिया जाय, तो क्या वह वर्णन मात्र कहानी हो जायगा? स्पष्ट है कि नहीं होगा। बात यह है कि घटना तो उस क्रिया का नाम है, जिसमें तुलनात्मक दृष्टि से मनुष्य के सजग प्रयत्न के हाथ अपेक्षाकृत कम— उसकी साधारण प्रकृति की असावधानता के मूल में निहित अदृष्टलीला का हाथ प्रमुख—रहता है। जिस प्रकार प्रत्येक घटना का स्थायी गुण उसका आश्चर्य-मूलक चमत्कार है, उसी प्रकार कहानी का स्थायी गुण भी उसमें निहित घटना की कल्पना का विस्मय और चमत्कार है। अर्थात् किसी घटना का वर्णन कला के उतना समीप नहीं, जितना उस घटना की कल्पना का वर्णन। तात्पर्य यह हुआ कि कहानी मानव जीवन की उस वस्तुस्थिति, परिस्थिति और क्रिया-कलाप का वर्णन है जो केवल घटना नहीं, उस सत्य की कल्पना है, जो घटना के एकान्त क्रोड़ में कहीं छिपा पड़ रह गया है।

कदाचित् इसीलिए हिन्दी कथा के आदि प्राणदाता स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने कहा था—बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता। उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा रहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी (छिपे सत्य) को खोलकर दिखा देना समर्थ आख्यायिका का काम है।

उन्होंने उत्तम कहानी के लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट कहा था—सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर होता है।

यह मनोवैज्ञानिक सत्य क्या है, अब हमें यह देखना है। सत्य से अभि-प्राय यह मनुष्य के उस बाहिरी रूप से है, जो छिपा नहीं रहता; प्रकट, साकार और प्रत्यक्ष होता है। कर्म से वह प्रकट होता है, सक्रियता से उसका आकार बनता है और संसार को वचन और कर्म से उसका अनुभव करने का अवसर मिलता है। किन्तु जीवन का सत्य केवल वचन और कर्म की सीमाओं

में घिरकर—कैद होकर—नहीं रहता। बहुत कुछ तो वह मन के अन्दर ही बना रहता है। यहां तक कि कभी-कभी ऐसे भी अवसर आते हैं, जब जीवन का सत्य मनुष्य की मृत्यु से प्रकट होता है।

महामना प्रेमचन्द जी के कथन का ऊपर जो उद्धरण दिया गया है, उसमें कथा के मनोवैज्ञानिक सत्य के केवल एक रूप की झलक मिलती है। जिस प्रकार प्रत्येक बुरे आदमी के अन्दर एक भलाई का दर्शन उन्होंने किया, उसी प्रकार प्रकट रूप से भले आदमी का आकार-प्रकार, वैभव और कांति रखने वाले व्यक्तियों के अन्दर कुछ ऐसी दुर्वृत्तियां भी छिपी रहती हैं, जो साधारण रूप से प्रकट नहीं होतीं और बहुधा प्रकाश में भी नहीं आतीं। एक मुंदा ढका हुआ, ऊपर से अभिराम रूप ही जिनका प्रकट होता है; पर कितना आडम्बर उनमें रहता है, कितनी बनावट के भीतर से वे झांकते हैं, कितने आवरणों के द्वारा वे प्रकाश में आ पाते हैं, इन सब अप्रकट किंवा छिपी हुई स्थितियों को साधारण रूप से प्रायः कम लोग ही जान पाते हैं। मनोवैज्ञानिक सत्य मनुष्य के इस वास्तविक रूप पर प्रकाश फेंकने का एक मुख्य साधन है। यथा—

जलेबियाँ लेकर एक लड़का सड़क पर जा रहा था। वह साइकिल के धक्के से अचानक गिर पड़ा। साइकिल वाला इसकी परवा न करके जब आगे बढ़ गया, तब चौराहे के सिपाही ने उसे रोक लिया। दोष किसका है, इससे वह अवगत था; क्योंकि संयोग से उसकी दृष्टि उसी ओर थी। लड़के के पास लोग इकट्ठे हो गये; क्योंकि उसके हाथ में चोट आ गयी, इस कारण वह रोने लगा। उसके रुदन ने सड़क के निवासियों की सहानुभूति जगा दी। चौराहे का सिपाही जब साइकिल वाले को उस लड़के के पास ले आया तब साइकिल वाले का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। और यह जानकर उसने भी दुःख प्रकट किया कि ऊँची-नीची जगह में गिर पड़ने के कारण उसका हाथ टूट गया। तत्काल वह अपने अपराध के लिए उपस्थित लोगों से क्षमा मांगने लगा। पर अन्त में उस लड़के को उसे हास्पिटल ले जाना पड़ा। लड़के का हाथ टूट गया है और वह हास्पिटल चला गया है, दूसरों

ओर जब इस बातकी सूचना उसके पिता को मिली, तो वह भी हास्पिटल जा पहुंचा। पर तबतक लड़के की बांह चढ़ा दी गयी और उस पर पट्टी बाँध दी गयी। थोड़ी देर में उसका दर्द भी बहुत कुछकम हो गया। वह चारपाई पर चुपचाप लेट रहा। इतने में उसका पिता वहां आ गया। साइकिल वाले ने जब उस व्यक्ति को आते देखा, तो लड़के के साथ-साथ वह भी रो पड़ा।

बस घटना केवल इतनी सी है। अब इसका मनोवैज्ञानिक सत्य देखिये। साइकिल वाले की बहिन का देहान्त हो चुका था, इसलिए अपने उस बहनोई के यहां उसका आना-जाना बहुत कम हो गया था, जो यहां इस लड़के के पिता रूप में उपस्थित है। और वह लड़का जिसका हाथ उसने तोड़ डाला है उसका सगा भानजा है। वर्ष के वर्ष बीत गये पर उसको देखने का, उसे अवसर नहीं मिला। इसीलिए वह अपने भानजे को पहचान न सका।

इस घटना में कहानी का मुख्य तत्त्व इस भावना में निहित है कि जिस पहचान के बिना साइकिल वाला अपने सगे भानजे का हाथ तोड़ डालता है, वह मनुष्यत्व की पहचान से आज कितनी दूर चली गयी है। जब तक वह लड़का उस साइकिल वाले का भानजा नहीं है, तब तक वह ऐसी लापरवाही से चलता है कि उससे लड़के को धक्का लग जाता और वह वहीं गिर पड़ता है। उसके संस्कार इतने गिरे हुए हैं कि पहले अपने ही धक्के से गिरते हुए जिस अपरिचित बालक को छोड़ कर वह भाग गया है, जब उसे ज्ञात होता है कि वह तो उसका भानजा है, तब वह अपनी इस असावधानी पर रो पड़ता है! अपने सगे भानजे और सड़क पर जाते हुए अपरिचित लड़के के साथ होने वाले व्यवहारों में जो अन्तर उस साइकिल वाले व्यक्ति के संस्कारों में आ गया है, वह उस सभ्यता का प्रतीक है, जिसने आज साधारण मनुष्य को पशु की भांति बर्बर बना डाला है। और इसी ओर संकेत करना इस घटना में निहित उस मर्मवाणी का मूल उद्देश्य है, जिसे हम कहानी में मनोवैज्ञानिक सत्य कहा करते हैं।

समालोचना क्षेत्र में अग्रणी आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है—जिस प्रकार चित्र में सारा खेल रेखाओं और रंगों का ही होता है,

सारा प्रभाव साधनों पर ही अवलम्बित रहता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कहानी में व्यंजक और व्यंग्य का, कथा और उद्देश्य का, एकीकरण हो जाता है।.... नवीन कहानी साध्य को साधन स, उद्देश्य को कथानक से एकदम अभिन्न बनाकर चलती है। और कभी-कभी तो जीवन-घटना ही—कहानी की वस्तु ही—अपना साध्य आप बन जाती है। घटना के मर्म में ही उद्देश्य छिपा रहता है।

वाजपेयी जी के कथन में कहानी के प्रच्छन्न उद्देश्य पर विशेष बल दिया गया है। क्योंकि एक लेखक का कथन है—

"प्रत्येक कलाकृति एक न एक निगूढ़ नैतिक महत्व रखती है। पर आप (कृपा कर के कला की इस) प्रकृति पर अपना कोई विधान न आरोपित कीजिए।"*

जीवन की वास्तविक झलक देने में कहानी की क्षमता साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कविता के सम्बन्ध में अंगरेजी कवि कालरिज का ऊपर जो अभिमत व्यक्त किया गया है, वह उनकी भिन्न रुचि मात्र का परिचायक नहीं है; उसमें कविता की एक कलात्मक परम्परा का भी आभास मिलता है। मनुष्य की आत्मा का मूल स्वर यों तो व्यापक रूप से समस्त साहित्य है; किन्तु मनोवेगों का जो रूप शिल्प-विधान के माध्यम से कविता द्वारा प्रकट होता है, वह जितना अधिक स्थायी होता है, उतना ही चिन्तनहीन भी रहता है। कदाचित् इसका कारण यह है कि सभ्यता के युग-युगान्त पार कर डालने पर भी कविता का गेय गुण अब तक यथावत् स्थिर है। जो कविता गेय नहीं हो पाती, वह स्मरण शक्ति की पावन गोद के आश्रय से भी वंचित हो जाती है। और गेय बनी रहने के कारण वह परिवर्तनशील जीवन की नाना वृत्तियों पर विवाद, तर्क, मन्थन और चिन्तन प्रकट करने की अपनी प्रकृत सामर्थ्य-सम्पदा भी खो देती है।

---

*एवरी वर्क अफ आर्ट हैज ए प्रोफाउंड मारेल सिगनीफिकेंस, बट यू मस्ट नाट टु इम्पोज योर ओन लॉज ऑन नेचर।

संस्कृत-साहित्य के समर्थ विधायकों एवं आचार्यों ने साहित्य के सभी अंगों में नाटक को जो श्रेष्ठ माना है, उसके मूल में भी कदाचित् उनका यही मन्तव्य रहा होगा कि प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप प्रकट करने का जितना अवसर नाटक में रहता है, उतना केवल एक कविता में ही नहीं, किसी भी कलाकृति में सम्भव नहीं है। इस निष्कर्ष में यह बात छिपी रह गयी है कि गेय कविता के उत्कृष्ट रूप का निखिल संयोजन उन्हें नाटक में प्राप्त हो जाता रहा है।

अपने पूर्वाचार्य्यों की ज्ञान-गरिमा के समक्ष सविधान नतशिर हो कर भी उपर्युक्त निष्कर्ष के विपरीत कहानी को जीवन के अधिक निकट मानने का एक आधार है। और वह है जीवन के साथ कला का सम्बन्ध। एक युग था, जब कला को केवल मनोरंजन का साधन माना जाता था। आज की स्थिति उससे भिन्न ह। आज तो हम कला की प्राणमयता को उपयोगिता की दृष्टि से देखे बिना जीवन से ही दूर जा पड़ते हैं। अतएव विचारने की बात है कि कहानी काव्य और नाटक की अपेक्षा किस प्रकार जीवन के अधिक निकट है। कविता से हम विचार चिन्तन की उतनी आशा नहीं करते, जितनी उत्तरंग-मानस के उद्गारात्मक उत्कर्ष की। नाटक में निस्संदेह विचार चिंतन का अवसर रहता है। पर जीवन जिस शांत प्रवाह के साथ गतिशील रहता है उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति नाटक में सम्भव नहीं है। नाटक में उन घड़ियों के चित्रण के लिए कहाँ स्थान है, जिनमें मनुष्य के हाथ-पैर तो काम नहीं करते, परउसका मानस उद्वेलित रहता है। नाटक में प्रत्येक दृश्य के लिए एक-न-एक घटना ऐसी चाहिए, जो इस पार्थिव जगत् में सहज सम्भव हो। मानसिक विपर्यय की वह हाहाकारमयी मूक वेदना, जो वाणी पर आ ही नहीं पाती—नाटक की सीमाओं में कहाँ आ सकती है? वह अभिनय जो संवाद की मर्मवाणी पा नहीं सका, नाटक की मुखर सत्ता से कहां तक संलग्न रह सकता है? फिर नाटक में मनुष्य के साधारण जीवन की झांकी के लिए कम, असाधारण जीवन की झलक के लिए निश्चित से अधिक अवसर है। जीवन की क्षण-क्षण व्यापी अश्रुविगलित निःश्वास वाणी को नाटक की नाटकीयता कितनी देर सहन

करेगी? नाटक तो उन्हें परिस्थितियों का दृश्यमान लेखन है, जिसका मनुष्य की कर्मधारा के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। चिन्ता-धारा के क्षेत्र में उसकी स्थिति अभी तक नगण्य है। आज का जगत् चाहे तो कह सकता है कि ऐसा मनुष्य किस काम का, जो अपना मनोभाव ही प्रकट नहीं करता! पर तब 'रहिमन निज मन की व्यथा मन ही राखौ गोप' का कवि भी ऐसे जगत् के लिए किस काम का रह जायगा?

इस प्रकार कविता और नाटक, साहित्य के ये दोनों अंग जीवन का सम्पूर्ण मर्म प्रकट करने में उतने समर्थ नहीं, जितनी कहानी। और उपन्यास का जगत् तो इतना व्यापक और विस्तृत है कि उसमें हमारे क्षण-क्षण की जीवन व्यापी चिन्ताधारा ही नहीं, उसके निखिल कार्य-कलाप की अभिव्यक्ति हो जाती है। और जहाँ तक चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध है, कहानी की अपेक्षा उपन्यास कहीं अधिक समर्थ है। कहानी में चरित्र-चित्रण के लिए अवसर भी अपेक्षाकृत कम रहता है। उसका कार्य चरित्र-सृष्टि तक ही सीमित है। चाहे संवाद हो या दृश्य का सजीव वर्णन, पत्र लिखा गया हो या वक्तव्य दिया गया हो, घर हो या सामाजिक सभा-भवन, प्लेटफार्म हो या रेल की यात्रा चल रही हो, कहानी हमारे जीवन के किसी अंश विशेष की झलक ही उत्पन्न करेगी। या तो किसी घटना का रहस्योद्घाटन करेगी या किसी विशिष्ट चरित्र की सृष्टि करके उसकी एक साकार सवाक् प्रतिमा हमारे सम्मुख उपस्थित कर देगी। किन्तु उपन्यास में उसके जीवन भर का चढ़ाव-उतार ऐसे रूप में प्रकट होगा कि उसके चरित्र के क्रम-विकास का सारा इतिहास ही मुखरित हो उठेगा। इस प्रकार आकार की सीमा की दृष्टि से ही नहीं, उसके शिल्प-विधान की दृष्टि से भी कहानी में चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यास की अपेक्षा कम अवसर रहता है।

कहानी केवल घटनात्मक नहीं होती, वह चरित्रात्मक और मनोवैज्ञानिक भी होती है। बात यह है कि घटनाएँ मनुष्य के जीवन में ही नहीं होती, उसके मन में भी होती हैं। जो व्यक्ति बोलता कम, काम अधिक करता है, उसके मन में एक अलग दुनिया बसी रहती है। प्रायः हम देखते

हैं कि चाभियों के जिस गुच्छे को खोजने में एक व्यक्ति ने अभी सारे घर में खलबली मचा रक्खी थी, वह गुच्छा उसके उसी कोट के जेब में पड़ा मिलता है जो वह पहने रहता है। प्रोफेसर गुप्त ने अभी अपने छोटे भाई से दवात मांगी थी, पर जब वह उनके पास दवात लेकर पहुँचाता है, तो वे कहते हैं कि मैंने तो गोंद की बॉटल मांगी थी। मुँशी रामप्रसाद के पास आज एक लिफाफा डेड-लेटर आफिस से लौट कर आया है। उसके अन्दर जो पत्र है, वह उन्हीं के हाथ का लिखा हुआ है। लिफाफे के ऊपर उनका नाम और पता भी लिखा हुआ है। फिर भी आश्चर्य है कि वह उन्हीं के पास कैसे लौट आया। उलट-पुलट कर उसे ध्यान से देखते हैं; तब पता की ओर जो उनकी दृष्टि जाती है तो यह देख कर अवाक् रह जाते हैं कि जिन बन्धु को उन्होंने यह पत्र भेजा था, पते पर नाममात्र केवल उनका है। शेष भाग की पूर्ति में उन्होंने स्वयम् अपने घर का पता लिख दिया है!

इस उदाहरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि मनुष्य के बाहर के जगत् से उसके भीतर का जगत् सर्वथा भिन्न है। और इसी भिन्नता को प्रकट कर देना मनोविश्लेषण का मुख्य धर्म है।

(२)

कहानी-कला के तत्त्वदर्शी, उसके शिल्पविधान के समीक्षक, इस विषय में प्रायः एक मत हैं कि हिन्दी कहानी के आधुनिक स्वरूप पर अँगरेजी, फ्रेंच तथा रूसी कहानियों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। परन्तु यह बात कितनी विचित्र और मनोरंजक है कि कथा-साहित्य का मुख्य जनक हमारा देश भारतवर्ष ही है; और आधुनिक सभ्यता के मूल स्वर की दृष्टि से उसका सब से अधिक गरिमामय इतिहास कथा-साहित्य का ही है।

लगभग बीस वर्ष पूर्व की बात है कि आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक पत्र में, इस विषय पर एक बहुत गवेषणापूर्ण लेख लिखा था। उसके अनुसार मिस्टर बेनफी ने, जो साहित्य के ऐतिहासिक शोध में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, सारे संसार की कहानियों की आधार-भूमि भारतवर्ष को ही माना है ...। मिस्टर विण्टरनित्स ने अपने 'सम प्राबलेम्स

ऑव इण्डियन लिट्रेचर' में लिखा है कि 'पंचतंत्र' संसार के साहित्य का सब से अधिक मनोमोहक अध्ययन है। और मिस्टर बुल्फ ने 'पंचतंत्र' के अरबी भाषा के अनुवाद को जर्मन भाषा में अनुवादित करते हुए लिखा है कि संसार की सर्वाधिक भाषाओं के अनुवादित साहित्य में बाइबिल के बाद 'पंचतंत्र' का ही स्थान है।

इस प्रकार स्थिति यह है कि हम कहते हैं कि हमने उनसे सीखा और वे कहते हैं कि हमने आपसे पाया। अब प्रश्न यह है कि इन दोनों कथनों का मूल आधार क्या है और साथ ही इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि 'पंचतंत्र' को जो इतना और गौरव मिला, उसमें प्रचार काल की स्थिति क्या थी।

द्विवेदीजी ने इस विषय में भी कुछ तथ्यपूर्ण प्रामाणिक बातें कही हैं। उनके मत से 'पंचतंत्र' का रचना-काल अभी तक निश्चित नहीं हुआ, परन्तु इसका सब से पहला अनुवाद पहलवी भाषा में बादशाह नौशेरवाँ (सन् ५३१-५७९) ने हकीम बर्जों से करवाया था। तदनन्तर ५७० ई० में सीरियन भाषा में इसका अनुवाद हुआ। इसके पश्चात् अरबी, जर्मन भाषाओं के साथ-साथ चेकोस्लोवाकिया, ग्रीक, इटली आदि सभी पाश्चात्य देशों की भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। बारहवीं शताब्दी में रोबीजोएल ने इसका अनुवाद हिब्रू भाषा में किया। तदनन्तर हिब्रू भाषा के अनुवाद से लैटिन भाषा में जो अनुवाद हुआ, वही कालान्तर में सब से अधिक लोकप्रिय माना गया।

यह बात कम आश्चर्य की नहीं है कि इस अवधि में 'पंचतंत्र' का ऐसा विश्वव्यापी प्रचार हो गया! जिस युग में साहित्य के प्रचार के साधन आज की अपेक्षा बहुत सीमित थे, अकेले इसी ग्रन्थ का इतना समादर और प्रचार कैसे हो गया! कहना न होगा, पश्चिम और पूर्व की सभ्यता और संस्कृति में आकाश और पाताल का अन्तर है; फिर भी उन देशों ने इस ग्रन्थ को इतना गौरव क्यों प्रदान किया, जो प्राच्य आदर्शों से दूर ही दूर रहते हैं और उन्हें असाधारण अव्यावहारिक और मानव-जगत् के लिए

एक अद्भुत चमत्कार के रूप में देखते हैं। ध्यान से देखने और विचार करने पर, अन्त में, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, जो साहित्य अखिल जगत् और उसमें फूलीफली मानवता को सार्वभौमिक और सर्वकालीन—अपेक्षाकृत सर्वव्यापक—विचार, दृष्टि और प्रेरणा देता है, उसकी सुधा धारा सतत प्रवाहिनी और नवनवोन्मेषिणी होती है। जाति और समाजगत भेदाभेद उसके लिए क्षणस्थायी रहते हैं। वह सामूहिक रूप से एक ही प्रकार के आनन्दसन्दीपन से समस्त विश्व और प्रकृति को अनुप्राणित करता रहता है। जिस प्रकार की वेदना से प्राच्य व्यक्ति व्यथित, उन्मन, व्याकुल, सन्तप्त और पीड़ित रहता है, उसी प्रकार की वेदना से पाश्चात्य व्यक्ति! जैसे सुख-दुःख, राग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष, सम्पर्क, आकर्षण और मिलन प्राच्य मानस को प्रभावित करते हैं, वैसे ही पाश्चात्य मानस को। तात्पर्य यह कि एक ही प्रकार की चिन्ताधारा समस्त मानव प्रकृति के मानसिक स्वास्थ्य का प्रतिनिधित्व करती रहती है। देश और काल, युग-परिवर्तन के प्रभावों में कोई व्यापक और मौलिक भेद नहीं उत्पन्न कर पाते। जो भेदाभेद कभी झलकते भी हैं, ध्यान से देखा जाय, तो वे क्षणस्थायी, कृत्रिम, आरोपित और मिथ्या होते हैं।

संस्कृत-साहित्य के रीति-ग्रन्थों में अग्निपुराण का एक महत्वपूर्ण स्थान है। उसमें कथा के जो लक्षण दिये गये हैं, उनमें कहानी के शिल्प-विधान का एक परम्परागत आभास तो मिलता ही है; साथ ही उसके क्रम-विकास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। उसके अनुसार कथा में लेखक के वंश का स्तवन और उसकी घटना कन्याहरण, युद्ध और विप्रलम्भ आदि विपत्तियों से युक्त होना चाहिए।

कहा जाता है कि आज का युग मुख्य रूप से ज्ञान-विज्ञान का युग है, और साहित्य की उपयोगिता की दृष्टि से यह गद्यका युग है। किन्तु भारतीय साहित्य का आदिकाल पद्यमय रहा है। कहना न होगा, वेदों की ऋचाएँ पद्य में हैं। ऋच शब्द का अर्थ ही पद्य है। इसी कारण कहानी का जन्म संस्कृत-साहित्य में पहले-पहल पद्य में हुआ। यद्यपि ऐसा नहीं है, वैदिक

साहित्य में गद्य का अभाव रहा हो। तत्कालीन ब्राह्मण ग्रन्थ पद्य में ही लिखे गये हैं। कादंबरी गद्य-साहित्य के उत्कर्ष की पताका आज भी फहरा रही है।

ऊपर अग्नि-पुराण में आख्यायिका के जो लक्षण दिये गये हैं, उनका सम्बन्ध प्रबन्ध काव्यों में निहित आख्यायिकाओं के गुणों के साथ विशेष और निकटतम जान पड़ता है। आख्यायिका में लेखक के वंश का स्तवन उस परम्परा को व्यक्त करता है, जिसमें प्रबन्ध काव्यों के आदि में कवि अपने आश्रयदाता राजन्य वर्ग का स्तवन करने के साथ-साथ अपने वंश का उल्लेख करने में कोई संकोच नहीं करता था। यह परिपाटी किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है। आज का लेखक भी, हम देखते हैं, साहित्य ग्रन्थों के समर्पण में कृतज्ञताज्ञापन तथा भूमिका में अपने संबंध की बात, अपने जीवन की बात, अपने साहित्य की देन में, अपने पूर्वजों के गुण, प्रकृति, स्वभाव का उल्लेख बड़े गर्व के साथ करता है। केवल शैली, दिशा और प्रकार बदल गया है। अपने आश्रयदाता के साथ-साथ प्रकारान्तर से अपना और अपने अहम् का उल्लेख किसी न किसी रूप में आज भी प्रचलित है।

अग्नि पुराण के अनुसार यद्यपि आज का आख्यायिका लेखक अपने वंश का स्तवन नहीं करता, किन्तु यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अपनी मान्यताओं के स्तवन के साथ दुर्बलताओं का मनोहर निरूपण स्वनिर्मित प्रसंगों के द्वारा उसकी कथाओं में निश्चित रूप से रहता है। यह स्थल आज की कथाओं के उदाहरण दे-देकर उनके लेखकों के अहंवाद की मर्मवाणी व्यक्त करने का नहीं है। वहाँ हम केवल यही कहना चाहते हैं कि अग्नि पुराण में, कथा के लक्षणों में, लेखक के वंश के स्तवन का जो उल्लेख किया गया है, उसका क्रमागत सम्बन्ध हम आज भी कथा-साहित्य में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

अब हमें देखना यह है कि अग्निपुराण के अनुसार कथा के शेष लक्षण आधुनिक कहानी में किस धरातल, स्तर और विकास के साथ विद्यमान हैं।

प्राचीन काव्यों में युद्ध-वर्णन की जो प्रधानता है, उसका साहित्य के मूल उपादानों के साथ बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। पशुबल के साथ

बुद्धिबल का, सत्य और न्याय पक्ष के साथ असत्य, अन्याय और दुराग्रह पक्ष का, भौतिक स्वार्थों के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष किंवा परमार्थ का, साधु और तपस्वियों के साथ दुष्टों और धूर्तों का; इसी प्रकार देवताओं के साथ राक्षसों का सम्पर्क, सम्बन्ध, संघर्ष, शक्ति परीक्षण और युद्ध जैसे हमारी सभ्यता के इतिहास के विकास का एक अनिवार्य विषय है, वैसे ही वह कथा साहित्य के क्रम-विकास का भी एक आधारभूत अंग है। कदाचित् इसीलिए प्रबन्ध काव्यों के ऐतिहासिक आधारों के सिवा मनुष्य के साधारण जीवन में भी युद्ध का स्थान—सामाजिक विषमता तथा मनोगत अन्तर्द्वन्द्व के रूप में—सर्वथा निश्चित और एक चिरन्तन सत्य वन गया है।

परन्तु अग्नि-पुराण में जिस प्रकार के युद्ध को कथा का एक गुण माना गया, राजनीतिक प्रभावों साथ अक्षुण्ण होने के कारण कथा-साहित्य में वह बहुत सीमित रह गया है। उसका स्थायी और व्यापक नाता तो मनुष्य के मन में निरन्तर चलनेवाले युद्ध और अन्तर्मन में निहित जीवन में व्यापक रूप से फैले अन्तर्द्वन्द्व से है।

अग्नि पुराण के अनुसार कहानी का दूसरा गुण है विवाह में कन्याहरण की विपत्तिजनक घटना। यह मान्यता सामन्त युग की दन जान पड़ती है। सुभद्राहरण, संयोगिताहरण जैसी घटनाएं पुरुषार्थ की दृष्टि से विशेष महत्त्व की मानी जाती थीं। पर, न केवल राजन्यवर्ग में वरन् आज की सभ्यता के अनुरूप विकसित समाज में भी इस प्रकार का नारीहरण आज सम्भव नहीं है। हां, इस स्थल पर यह अवश्य विचारणीय है कि जैसे उस समय की कथाओं में कन्याहरण को नायक की वीरता का एक विशेष अंग माना गया, वैसे ही आज प्रेम-कथाओं में भी उन परिस्थितियों के लिए एक निश्चित स्थान वन गया जो पहले तो वैवाहिक प्रसंगों, सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों और अन्य परम्पराओं द्वारा एक महाविपत्ति खड़ी कर देती हैं, पर अन्त में कोई ऐसी घटना या परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि विपत्ति के बादल अनायास टूट जाते हैं। भाग्यवादी लेखकों के हाथ में यदि कहीं इस प्रकार की घटनाएँ जा पड़ती हैं, तो वह नायक की विफलता में एक ऐसे

हाहाकारपूर्ण असहनीय दारुण दुख-सागर का चित्र अंकित कर देता है कि पाठक का हृदय सहसा कम्पित हो उठता है। वह विचारा सोचता रह जाता है कि दुःखों का भोग जीवन का एक निश्चित चिरन्तन सत्य है। असफलता जीवन में अवश्यम्भावी है और विपत्ति के आकस्मिक हस्तक्षेप और विरोध के आगे व्यक्ति का सारा प्रयत्न, उद्योग और पुरुषार्थ सर्वथा असहाय, हीन और व्यर्थ है।

यहाँ कन्याहरण तथा विवाह-सम्बन्धी घटनाओं के साथ 'विपत्ति' शब्द का योग भी कम विचारणीय नहीं है। काव्य हो चाहे नाटक अन्त में विजय, सफलता और एक चिरस्थायी सुख-शान्ति की स्थापना भारतीय वाङ्मय का एक स्थायी आदर्श तथा गुण रहा है। मनुष्य का जीवन सुखमय हो, इसी एक महान् उद्देश्य के साथ, उसमें समस्त कलाओं का निरूपण किया गया है। भगवान् राम चौदह वर्ष तक बनवास करते हैं। यह प्रसंग चाहे जितना दुखद हो, किन्तु अन्त में वे लौटते और अयोध्या में शान्तिपूर्वक राज्य भी करते हैं। तपस्वियों की साधना में विघ्न डालनेवाले चरित्रों के साथ राम लोहा लेते हैं। रावण छल-प्रपंच के साथ सीता को हरण कर लाता है, किन्तु अन्त में दैत्य वंश का संहार होकर रहता है। दुर्योधन राज्य-भोग के प्रति एक लोलुप दृष्टि रखता है। ऐश्वर्य के प्रति उसे बड़ा मोह है। वह राग-द्वेष की मूर्ति है। प्रतिहिंसा की मात्रा भी उसमें अधिक है। उदात्त विनोद को तत्काल हृदयंगम कर उसका उचित समादर करने की उच्च सभ्यता का भी उसमें अभाव है। इसके विपरीत युधिष्ठिर मन, वचन और कर्म की एकता में एकरस, स्वाभाविक रूप से उदार, कष्ट-सहिष्णु और धर्मपरायण हैं। अधिकार स्थापन और कर्म निरूपण के नाम पर युद्ध होता है। इतना भयानक और विनाशकारी युद्ध कि काल की लघुतम सीमा की दृष्टि से देखा जाय, तो अठारह दिनों की अल्प अवधि में इतना व्यापक महायुद्ध आज के इस वैज्ञानिक युग में कम देखने सुनने को मिलता है। ऐटम बम के प्रयोग अथवा किसी एक पक्ष पर प्रलयंकर आक्रमण की बात दूसरी है। तात्पर्य यह कि महाभारत जैसे युद्ध हुए, पर उसका अन्त न्याय के पक्ष में

ही हुआ। केवल इसलिए कि सत्य और न्याय—मानवात्मा की आदर्श सुख शान्ति इन्हीं दो आधारों पर टिक सकती है।

किन्तु यह विपत्ति क्यों आती है? फिर वह अन्य अवसरों पर भले ही आये, पर यह क्या है कि वह विवाह जैसे आनन्द-महोत्सव के समय आये! क्योंकि वह नित्य और निश्चित है। मनुष्य के जीवन में यदि कभी विपत्ति न आये, तो जीवन की निखिल महत्ता ही मूक और बधिर हो जाय! मनुष्य के जीवन में यदि दुःख न हो, तो सुख-साफल्य की मन्द-मन्द शान्त प्रवाह-मयी मन्दाकिनी ही सूख-सूखकर एक सैकत राजमार्ग बनकर रह जाय! इसीलिए विपत्ति निश्चित है। जीवन को उससे मुक्ति कैसे मिल सकती है! जीवन को समझने के लिए उसकी अपनी उपयोगिता भी तो है।

इस स्थल पर एक कथा-प्रसंग का स्मरण आ रहा है। लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व लायोन्स नगर में, एक जगह पर, एक भोज दिया गया। उसमें बड़े धनी-मानी व्यक्ति सम्मिलित हुए। वार्तालाप के सिलसिले में पौराणिक कथाओं के चित्रों के सम्बन्ध में विवाद छिड़ गया। अतिथियों में जब यह विवाद शिष्टता और संयम का अतिरेक करने लगा, तो गृहस्वामी ने अपने एक भृत्य को बुलाया और उस चित्र के विषय में समझाने का आदेश किया। भृत्य ने स्पष्ट, संक्षिप्त, सरल और विश्वसनीय भाषा में उन चित्रों का मर्म समझा दिया। उसका उत्तर सुनकर सब लोग आश्चर्य से चकित हो उठे और सारे विवाद का अनायास अन्त हो गया।

उसी समय एक अतिथि ने उस भृत्य के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए पूछा—"महाशय, मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने किस स्कूल में शिक्षा प्राप्त की है?"

नवयुवक भृत्य ने उत्तर दिया—"यों तो मैंने कई स्कूलों में शिक्षा पायी है। परन्तु 'विपत्ति' के स्कूल में मैंने अध्ययन करने में सबसे अधिक समय व्यतीत किया है!"

यह नवयुवक भृत्य उस समय का एक अत्यन्त दीन-हीन किन्तु क्रान्ति-कारी लेखक जीन जेक रूसो था।

इस प्रकार अग्नि पुराण में कथा के उपर्युक्त लक्षण में 'विपत्ति' शब्द अपने स्थान पर बड़ा महत्त्व रखता है। आज की कहानी के मूल स्वर के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। विपत्ति का स्कूल ही कहानी का वास्तविक स्कूल है।

(३)

कहानी को हम कई अंशों में और कई प्रकार से विभाजित कर सकते हैं। सब से सरल विभाजन है किसी भी क्रिया की भांति—प्रारम्भ, मध्य और अन्त। इसी को हम जन्म, विकास और परमगति भी कह सकते हैं।

पहले प्रारम्भ को लीजिए। कहानी का प्रारम्भिक गुण है उत्सुकता। अर्थात् उसका प्रारम्भ ऐसे ढंग से होना चाहिए कि उसका साधारण धर्म, स्वाभाविकता और सप्राणता उसमें सर्वथा सुरक्षित हो। ऐसा न प्रतीत हो कि हम कोई (कृत्रिम) कहानी पढ़ रहे हैं। वरन् कुछ ऐसा प्रतीत हो कि अवश्य ही ऐसी घटना कहीं हुई है। कहीं ऐसा सन्देह भी न हो कि इसके अन्दर जिन लोगों की बात चल रही है, वे इस जगत् के नहीं हैं। मन में कहीं यह शंका भी न उपस्थित हो कि समाज में ऐसे व्यक्ति तो कहीं दिखाई नहीं देते।

प्रायः नये लेखक कहा करते हैं कि कहानी मैं लिखना तो चाहता हूँ, पर यही मेरी समझ में नहीं आता कि उसे आरम्भ कैसे करूँ। वे इतना भी नहीं सोचते कि कहानी को किसी भी परिस्थिति से प्रारम्भ किया जा सकता है। यथा—

आज जब मेरी आँख खुली तो क्या देखता हूँ कि सामने वाले मकान की छत की मुंडेर पर कबूतर बैठा हुआ गुटुर गूँ कर रहा है।

अब आइए मध्य में। कहानी का मध्य उसकी विकसित अवस्था का द्योतक है। और सब से सुन्दर कहानी वह होती है जिसकी घटना अथवा समस्या में एक प्रकार का संशय और असमंजस रहता है। उसकी दुविधा में इतनी त्वरा रहती है कि पाठक कहानी पूर्ण होने से पूर्व ही परिणाम जानने के लिए अधीर हो उठता है; किन्तु कथा के मध्य में कहीं कोई ऐसा संकेत भी नहीं रहता कि अन्तिम परिणति के पूर्व कहीं भी उसका भेद खुल सके।

कहानी के अन्त की स्थिति सब से अधिक सुकुमार होती है। प्राय: बड़े प्रतिष्ठित लेखक सुन्दर-से-सुन्दर कहानी का अन्त करने में गड़बड़ा जाते हैं। बात यह है कि मनुष्य जैसे अन्त के क्षण परम गति को प्राप्त होता है, वैसे कहानी का अन्त उसके अन्तराल में निहित एक ऐसा मर्म स्वर होता है जो इसी अवसर के लिए सुरक्षित रहता है उससे पूर्व सर्वथा प्रच्छन्न रखा जाता है। वह ऐसे विस्मय के साथ फूट पड़ता है कि पाठक वाह-वाह कह उठता है! कहानी यदि घटनात्मक होती है, तो पाठक का हृदय इस अखिल सृष्टि और प्रकृति में निहित नियति के कठोर व्यंग्य से यकायक तिलमिला उठता है। वह मन-ही-मन इस जगत् में चतुर्दिक व्याप्त एक रहस्य का अनुभव करने लगता है, मानो अब तक वह उससे सर्वथा अपरिचित और अनभिज्ञ बना रहा है। इस प्रकार के अन्त का परिणाम प्राय: ऐसा भी होता है कि वह भविष्य के सर्वथा अनिश्चित फलाफल को भोगने के लिए पहले से कहीं अधिक सावधान और सतर्क हो उठता है।

दूसरे ढंग से हम कहानी को——कथानक, पात्र और दृश्य——इन तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

कथानक को वस्तु तथा वृत्त के अतिरिक्त अँगरेजी में प्लाट कहते हैं, कोई भी अप्रत्याशित क्रिया, चाहे वह मन की दुनिया में हो, चाहे भौतिक जगत् में, यदि मनोवेगों और समवेदनाओं का स्पर्श करके पाठक के मन में परम हार्दिकता के साथ स्पन्दन और एक प्रकार की मधुरता तथा रुचिरता उत्पन्न कर दे, चाहे वह आश्चर्य्यजनक या आह्लादपूर्ण हो, चाहे आघात-मूलक, घटना होती है। इसी घटना की परिस्थिति का दूसरा नाम कथानक है। उसकी संयोजना के मूलाधारों का नाम पात्र और उसकी रूपात्मक गतिविधि और कार्य-कलाप का नाम दृश्य है। कहानी के प्राण को हम कथानक, कर्मेन्द्रियों को पात्र और उनके शरीर को दृश्य कह सकते हैं।

बहुधा हम देखते हैं कि जिस कहानी में कथानक नहीं होता, वह निष्प्राण होती है। और जैसे इन्द्रियों के बिना भी कोई क्रिया सम्भव नहीं। पात्रों के बिना कोई खेल हो नहीं सकता, इसी प्रकार प्रत्येक क्रिया की

रूपात्मक सत्ता सदा एक न एक दृश्य उपस्थित करती रहती है। प्राण और इन्द्रियों का अस्तित्व शरीर के विना सम्भव नहीं, क्योंकि प्राण और इन्द्रियाँ अंततोगत्वा शरीर में ही विलय होती हैं, वैसे ही परिस्थितियाँ और पात्रों का अस्तित्व दृश्य के बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार कथानक, पात्र और दृश्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना अन्य दोनों व्यर्थ हो जाते हैं।

कथानक चार प्रकार के होते हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, भाव प्रधान और वर्णनात्मक। जासूसी कहानियों की गणना घटना प्रधान कहानी में की जाती है। चरित्र प्रधान कहानी में चरित्र के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। भाव प्रधान कहानी में घटना और चरित्र पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना भावुकता पर। उसमें यदि कोई घटना भी होती है, तो उसकी परिणति भावुकता से होती है। वर्णनात्मक कहानी में वर्णन की चारुता की ऐतिहासिकता पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

इस प्रसंग में इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक हो गया है कि घटना-मूलक कहानी के सारे कार्य पात्रों की इन्द्रियाँ करती हैं। या तो उनके हाथ-पैर काम करते हैं, या वे वार्त्ता से काम लेते हैं। किन्तु भावात्मक तथा चरित्रात्मक कहानियों के अधिकांश कार्य-कलाप मन-सम्बन्धी होते हैं। मानसिक उद्वेलन और मानसिक-विपर्यय ही उनका मूल स्वर होता है। ऐसी कहानियां मनोविश्लेषण पद्धति द्वारा लिखी जाती हैं।

यों तो जीवन की प्रत्येक भौतिक क्रिया दृश्यात्मक होती है। किन्तु कहानी में दृश्य की जो सत्ता है, उसका एक विशेष अभिप्राय है। बात यह है कि एक व्यक्ति जब दूसरे से मिलता है, तब उससे कुछ-न-कुछ अवश्य कहता है। इन कथनों में जो विचार-विनिमय होता है, उसे कहानी की भाषा में कथोपकथन कहते हैं। कथोपकथन विहीन दृश्य मूक होते हैं। यों मूक दृश्यों की कहानी भी हो सकती है, पर वह केवल वर्णनात्मक होगी। उसमें या तो कार्यकलाप की चर्चा रहेगी, या सम्बन्धित पात्रों के मत का भेद बतलाया जायगा। पर इस प्रकार के दृश्यों में नाटकीय परिस्थिति का सर्वथा अभाव रहेगा और जिन कहानियों में नाटकीय परिस्थिति का अभाव

होता है,उनमें जीवन का कोई भी मनोवेग चरम परिणति तक नहीं पहुंच पाता और कहानी सफलता के चरम विन्दु को प्राप्त करने से वंचित हो जाती है।

कहानी के शिल्प-विधान की चर्चा के समय, हमें एक बात नहीं भूलनी चाहिए। वह यह कि कहानियों का जन्म पहले हुआ है, उसके शिल्प-विधान की रचनात्मक व्याख्या उसके बाद। अर्थात् कहानी के शिल्प-विधानों को मूलरूप से कहानी ने ही जन्म दिया है। यह बात दूसरी है कि आज शिल्प-विधानों का कहानी-लेखन पर नियन्त्रण चलने लगा है।

यहां इस कथन का अभिप्राय कथाकार की उस प्रतिभा को स्मरण और स्वीकार करना है, जिसकी रचना से कथा के शिल्प-विधान में निरन्तर विकास होता रहता है। रचना का मुख्य गुण शैली है। शैली से ही मनुष्य का व्यक्तित्व प्रकट होता है। इसीलिए शैली को मनुष्य का प्रतिरूप माना गया है।* शैली वास्तव में उन गुणों का नाम है, जो किसी रचना, शिल्प और व्यक्ति को, उसके विशिष्ट गुण, कर्म और स्वभाव के कारण उसे पूर्व-कालीन वर्ग, जाति और श्रेणी से पृथक्, मौलिक और श्रेष्ठ बनाती है। शैली प्रतिभा की वह झलक है, जो किसी रचनाकार को साधारण कोटि से उठाकर असाधारण कोटि में लाकर उसे खड़ा कर देती है। शैली नवनव कल्पनाओं के भीतर से उठने और जन्म लेने वाले उस मूर्त प्रयोग का नाम है जो जीवन के हर क्षेत्र में सफलता के साथ नेतृत्व करता है।

शैली की दृष्टि से यदि हम कहानियों का विभाजन करें, तो वह इस प्रकार होगा—

१. वर्णनात्मक
२. कथोपकथन प्रधान
३. आत्मकथन प्रधान
४. डायरी प्रधान
५. पत्र प्रधान

---

* 'स्टायल इज़ दी मैन।'

वर्णनात्मक शैली में घटना तथा परिस्थिति का सारा वृत्तान्त इतिहास की भांति वर्णन कर दिया जाता है। यह वर्णन जितना सजीव और चित्रात्मक होता है, उतना ही रोचक बन जाता है। पहले-पहल इसी शैली पर अधिकांश कहानियाँ लिखी जाती थीं, पर इसका अधिक उपयोग अब कहानी की अपेक्षा उपन्यास में अधिक होता है। वातावरण का सजीव इसी शैली पर आधारित रहता है। भाषा सरल हो और वाक्य बहुत बड़े न हों, भावों में मर्म-स्पर्श की क्षमता और विनोद की झलक हो तो इस शैली की कहानियों में बड़ा प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

कथोपकथन कहानी का मूल स्वर होता है। एक विज्ञ का कथन है कि कहानी सुन्दर चाहे जितनी हो, पर कथोपकथन के बिना गूंगी रहती है। कथोपकथन पात्रों के व्यक्तित्व और उनकी संस्कृति के अनुरूप रहना चाहिए। क्योंकि सभी आदमी एक ही प्रकार से नहीं बोलते, सबकी भाषा भी एक-सी नहीं होती।

आत्म-कथन प्रधान शैली में हार्दिकता की प्रधानता रहती है। उसमें सजीवता स्वाभाविक रूप से स्वतः बढ़ जाती है। पाठक के मन से यह बात हटाये नहीं हटती कि लेखक मानो अपना ही जीवनचरित लिख रहा है। यही इस शैली का सबसे बड़ा गुण है; और यही इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी। बात यह है कि हार्दिकता के कारण जहां इस शैली की कहानी अपेक्षाकृत अधिक सजीव हो जाती है, वहां प्रायः ऐसा भी होता है कि भिन्न प्रकार का चरित्र-निर्वाह करते-करते लेखक अनायास अपनी प्रवृत्ति, अपना स्वभाव और अपनी रुचियों की झलक डालकर चरित्र-चित्रण की एकनिष्ठ सफलता के लिए हानिकर और अविश्वसनीय बन जाता है।

डायरी प्रणाली से लिखी जाने वाली कहानियाँ रोचकता की दृष्टि से आत्मकथा शैली का प्रभाव पा जाती हैं। इस प्रकार की कहानियों में बहुधा उसी नायक के जीवन की झलक मिलती है, जो या तो इस जगत् से विदा ले चुकता है, या इस संसार के सामाजिक संघर्ष से ही अपने आपको दूर फेंक देता है। जिस कथा को उसे कर्म की लकीरों से लिखना चाहिए,

उसे वह कागज पर उतार कर संतोष कर लेता है। इस शैली में वही कहानियाँ अधिक सफल होती हैं; जिनका अन्त दुःखमय होता है। इसकी सुखान्त कहानियाँ बहुधा निर्जीव और हलकी होती हैं। डायरी के अपने विशिष्ट लक्षणों के निर्वाह में यदि वे सफल भी हुईं, तो घटनाओं की संयोजना में गड़बड़ाकर अपना प्रभाव खो बैठती हैं।

पत्र-शैली की कहानी में एक तो दृश्यात्मक गुणों का अभाव रहता है; दूसरे नाटकीय प्रभाव भी उसमें उतनी रुचिरता से नहीं आता, जितना वर्णनात्मक और कथोपकथन की मिश्रित शैली वाली कहानी में। विश्व-साहित्य में आज जो कहानियाँ अमर मानी जाती हैं, वे प्रायः इसी मिश्रित शैली की देन हैं।

विषय की दृष्टि से अब तक निम्न प्रकार की कहानियाँ लिखी गयी हैं—

१. प्रेम-कहानियाँ
२. ऐतिहासिक कहानियाँ
३. जासूसी कहानियाँ
४. जीवन-रहस्य पर प्रकाश फेंकने वाली, आश्चर्य्य कहानियाँ
५. व्यंग तथा हास्य कहानियाँ
६. आदर्श कहानियाँ
७. मनोवैज्ञानिक कहानियाँ

कहानी का मूलस्वर प्रेम है। प्रेम पर किसी का हस्तक्षेप और नियंत्रण नहीं चलता। प्रेम की महत्ता प्राणों के मूल्य से भी तौली नहीं जा सकती। इसीलिए लोग प्राण देकर भी प्रेम की रक्षा करते हैं। प्रेम एक ईश्वरीय देन है, वह सबको नहीं मिलता। विरले ही इस अमृतपान का अवसर पाते हैं। प्रेम बड़ा जिद्दी और निष्ठुर भी होता है। क्षमा, दया और उदारता, सहानुभूति और शिष्टाचार उसे स्पर्श नहीं कर पाते। वह क्रय-विक्रय का सीमाओं से परे रहता है। वह कलाकार ब्रह्म का एक सर्वव्यापक रूप है। कोई प्राणी उससे वंचित नहीं रहता। वासना से मिलने में उसे आपत्ति नहीं, पर वह उसके साथ रह नहीं सकता। वह देखता सबको है, पर उसके आँखें नहीं

होतीं। उसके अनेक मार्ग हैं, अनेक रूप और स्वर हैं। उसको अँगुली भी पकड़ने को मिल जाय, तो वह ईश्वर से मिला सकता है। विश्व के कहानी साहित्य से यदि प्रेम कहानियाँ पृथक् कर दी जायँ, तो जो कुछ शेष रह जायगा, वह एक प्रकार से निष्प्राण होगा। इसीलिए सभी समुन्नत भाषाओं में आज प्रेम की कहानियों की धूम है।

ऐतिहासिक कहानियों का मुख्य सम्बन्ध काल से रहता है। किसी भी समय और किसी भी विषय की कहानी युग-परिवर्तन के पश्चात् कालान्तर में ऐतिहासिक बन जाती है।

जासूसी कहानी का विषय उसके नाम ही से प्रकट है। हत्याओं, अग्नि कांडों, चोरियों, विविध अपराध जन्य स्थितियों तथा दुर्घटनाओं में जिन लोगों का प्रमुख हाथ रहता है, उनकी खोज और छानबीन ही इन कहानियों का उद्देश्य है।

विश्व के कथा-साहित्य में प्रेम कहानियों के बाद जिन कहानियों की गणना अधिक की जाती है, वे जीवन-रहस्य की आश्चर्य्य कहानियाँ होती हैं। जगत् में नाना प्रकार के व्यक्ति हैं। रूप, आकार-प्रकार भाषा और संस्कृति की दृष्टि से यों भी उनमें परस्पर बड़ा अन्तर होता है फिर गुण, कर्म और स्वभाव को लेकर उनकी भिन्नता और भी बढ़ जाती है। इतने पर भी मनुष्य सामाजिक प्राणी है। एक का दूसरे के साथ मिलना-जुलना, जीवन व्यापारों में सहयोग करना, पारस्परिक विश्वास, एक का दूसरे पर निर्भर रहना आदि ऐसी वृत्तियाँ हैं, जो मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक हैं। उसके बाद स्वार्थ-साधन, आडम्बर, भ्रम-जाल, षड्यंत्र के पड़ोस में चुपचाप बैठी निःश्वास भरती सहृदयता, उदारता, क्षमा, दया और नाना प्रकार की प्रति-क्रियाओं में विजड़ित संत्रस्त क्षिप्त आज का सामाजिक व्यक्ति—मन, वचन और कर्म की एकता में कहां जा पहुंचा है, इन्हीं बातों. विषयों. उलझनों और समस्याओं का निरूपण इस प्रकार की कहानियों का मुख्य क्षेत्र होता है।

व्यंग्य तथा हास्य की कहानियों का, जीवन और समाज के नव-निर्माण और विकास में बड़ा हाथ रहता है। शरीर उसका मनोरंजक अवश्य होता

है, पर उसके भीतर समाज की आलोचना की जो एक सजग भूमिका रहती है, वह कड़ुवी औषधि की भांति तीखी, तीव्र और कटु होती है। रचनाकार चाहे तो ऐसी कथाओं द्वारा समाज का मानसिक ताप दूर करके उसका बड़ा उपकार कर सकता है। पर इस प्रकार की कहानियों में दो बातों का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

१. वे अश्लील और यौन-परक न होनी चाहिए।

२. व्यक्तिगत-आक्षेप से उन्हें सदा दूर रखना चाहिए।

आदर्श कहानियों से यहां अभिप्राय उन कहानियों से हैं, जिनके भीतर से किसी नीति, सिद्धान्त और आदर्श विशेष की मन्द मन्द-गन्ध वायु निःसृत होती रहती है। ऐसी कहानियाँ उद्देश्य मूलक होती हैं। व्यक्ति और समाज की साधारण भूलों, अन्ध परम्पराओं, प्रतिक्रियाओं, रूढ़ियों तथा जीवन में फैले क्रोध, मोह, अहंकार के विष से पाठक को सजग करते रहना इन कहानियों का मुख्य लक्ष्य होता है।

ये कहानियाँ स्थूल रूप से दो प्रकार की जान पड़ती हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। किन्तु मूलतः वे आदर्शवादी ही होती हैं। अन्तर उनमें केवल शैली का रहता है। आदर्शवादी कहानियों में व्यक्ति और समाज की आलोचना परिष्कृत, शिष्ट और सुधारवादी दृष्टि से होती है, पर यथार्थवादी कहानियों में शिष्टता का उतना ध्यान नहीं रक्खा जाता, जितना तीव्रता का। वे अपेक्षाकृत कटु भी होती हैं। लेखक उनकी रचना में क्षण स्थायी सुधार का स्वर न देकर क्रान्ति का शंखनाद देता है। वह इस प्रकार की औषधि पर विश्वास नहीं करता, जो प्रकट रूप से, थोड़े दिनों के लिए रोगी को निरोग रखती है, पर उसके पश्चात् उसके लिये परम धाम का टिकट काट देती है!

यह यहां स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि एक सच्चा, कर्मठ और सफल यथार्थवादी पक्का आदर्शवादी होता है। हिन्दी जगत् में यथार्थवाद के सम्बन्ध में एक बड़ा भ्रम फैला हुआ है। लोग यथार्थवाद को आदर्शवाद से सर्वथा पृथक् मान बैठे हैं। पर ध्यान से देखा जाय, तो यथार्थवाद आदर्शवाद का ही एक रूप है। बात यह है कि जैसे यथार्थ का एक आदर्श होता है, वैसे ही

आदर्श की एक यथार्थता होती है। यथार्थ की ओर इंगित किये बिना आदर्श अपनी रक्षा तक नहीं कर सकता और एक आदर्श को लक्ष्य-बिन्दु माने बिना यथार्थ की स्थिति ही डांवाडोल रहती है। सच पूछिए तो दोनों एक ही राज-पथ के पृथक्-पृथक् दो फुटपाथ हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ केवल एक विशिष्ट शैली के कारण अपना पृथक् अस्तित्व रखती हैं; अन्यथा साधारण रूप से प्रत्येक कहानी का आधार मनोविज्ञान होता है।

बात यह है कि बाहर से मनुष्य का जो रूप हम निरन्तर देखते हैं, भीतर उसका वह रूप नहीं होता। मनुष्य जो कुछ कहा करता है, कर्म की गति में उसे वास्तविक संज्ञा वह केवल इसलिए नहीं दे पाता कि भविष्य की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं; यद्यपि ऐसा भी संभव है। पर प्रायः होता यह है कि स्वार्थ-साधना में संलग्न थोड़ी-सी भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति प्रकट रूप से जो कुछ कहता है, वह प्रायः कृत्रिम और तथ्यहीन होता है। अर्थात् उसके मन, वचन और कर्म में एकता नहीं होती। वह मन में जो रखता है, वह कहता नहीं और जो कुछ कहता है, वह करता नहीं। उसका वचन मन से भिन्न और कर्म वचन से भिन्न होता है। समाज में अशान्ति और विषमता का जो कोलाहल और चीत्कार हम निरन्तर देखते हैं, उसका मूल कारण यही अनैक्य है। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य अपने आपको कहां तक छिपा सकता है, कहां तक वह समाज के सम्मुख उजला और सच्चा बना रह सकता है? समाज से हम चाहे जितनी शिकायत रक्खे, पर उसका एक ऐसा व्यवस्थित रूप तो बन ही गया है कि नैतिक विश्वासों और मान्यताओं से सर्वथा हीन व्यक्ति चाहे जितना बुद्धिमान हो, एक-न-एक दिन उसकी धूर्तता भंडाफोड़ होकर रहता है। नारी की परवशता को लेकर अगणित कहानियाँ लिखी गयी हैं, किन्तु वश रहते हुए नारी की वास्तविक स्थिति क्या है? साहित्य और कला की पृष्ठभूमि पर उतर कर नारी को लेकर जो अनेक काव्य और उपन्यास लिखे गये, क्या उनके द्वारा हम पूर्ण रूप से उसे समझ पाये? आज के सामाजिक पुरुष की आर्थिक हीनता हमारी समझ में आती है,

किन्तु मानसिक हीनता के मूलाधार क्या हैं, क्यों मनुष्य इतना असहाय, हीन और पंगु बन गया है ? उसकी इस दुरवस्था के मूल में समाज का ही हाथ है, व्यक्ति के अपने संस्कारों का कुछ नहीं है ? दुष्ट, धूर्त और चरित्रहीन व्यक्ति भी क्या कहीं धर्मपरायण, सच्चा और साधु नहीं हैं ?——मनोवैज्ञानिक कहानियों में इन्हीं बातों पर विचार और अनुशीलन किया जाता है।

(४)

हिन्दी की मौलिक कहानी का इतिहास अभी केवल चालिस बयालिस वर्ष का है। सन् १९०० ई० की 'सरस्वती' में कई मास तक अँगरेजी-साहित्य के अमर कवि शेक्सपियर के कई नाटकों के अनुवाद प्रकाशित हुए। इन अनुवादों का साथ संस्कृत नाटकों के अनुवादों ने दिया। पर अँगरेजी और संस्कृत—दोनों प्रकार के इन नाटकों के अनुवाद नाटक में न होकर कहानी में थे। अँगरेजी के नाटक थे 'सिम्वलीन', 'टाइमन आफ़ एथेंस' और 'कमेडी आफ़ एरर्स' और संस्कृत के रत्नावली और मालविकाग्निमित्र। बाण की 'कादम्बरी' का अनुवाद एक लघु उपन्यास के रूप में इससे भी पूर्व हो चुका था। सच पूछिए तो इन अनुवादों ने ही हिन्दी में मौलिक कहानी लेखन को प्रेरित किया। पहले लोगों ने कहा——जून सन् १९०० ई० में प्रकाशित 'इन्दुमति' कहानी हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी है। परन्तु फिर स्वर बदला और यह सिद्ध हो गया कि वह सर्वथा मौलिक नहीं, 'टेम्पेस्ट' से प्रभावित और एक राजपूत कथा से आधारित है। वातावरण मात्र उसका भारतीय कर दिया गया है। इस कहानी के लेखक थे स्व० पण्डित किशोरी-लाल गोस्वामी।

कहते हैं कि कहानी की काया का निर्माण उन कल्पनाओं से होता है, जो जीवन की साध पूरी नहीं कर पाती। अर्थात् लेखक कल्पना-विलास में भी अपनी मानसिक साध पूरी कर लेता है। गोस्वामी जी ने इन्दुमती की रचना की होगी, तब कदाचित् उनकी कल्पना नहीं रही होगी। हिन्दी में ऐसी कहानियों को जन्म देना, जिनकी गरिमा अनुवाद से ऊपर हो। पर कल्पना के आनन्द से भी ऊपर है वह संयोग, जो अकल्पित होता है। अर्थात् अकल्पना

का आनन्द कल्पना से भी बढ़कर होता है। गोस्वामी जी ने कभी सोचा भी न होगा कि आधार ग्रहण की थोड़ी-सी दुर्बलता रखते हुए भी उनकी इन्दुमती कहानी किसी अन्य भाषा की नहीं, हिन्दी की मौलिक कहानी मानी जायगी।

डॉक्टर श्री कृष्णलाल ने 'हिन्दी कहानियाँ' की विस्तृत भूमिका में लिखा है कि सन् १९०० से १९१० तक का समय आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रयोगात्मक युग था। जब कहानी की कोई निश्चित परम्परा न थी। उसके साहित्यिक रूप तथा शैली के सम्बन्ध में कोई निश्चित आदर्श सामने न था। किन्तु मिर्जापुर निवासिनी लेखिका श्री बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी इसी प्रयोगात्मक युग की देन है। यह कहानी शिल्प-विधान की दृष्टि से बहुत कुछ निर्दोष है और मौलिकता की दृष्टि से भी वह खरी उतरती है। अतः निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'दुलाई वाली' है।

सन् १९११ ई० का वर्ष हिन्दी कहानी के जन्म की दृष्टि से बड़ा ही श्रेष्ठ और मांगलिक था। हिन्दी के रवीन्द्र जयशंकर प्रसाद जी की 'ग्राम' जो उनकी सर्वप्रथम कहानी थी, 'इन्दु' में इसी वर्ष प्रकाशित हुई। इसी वर्ष जी० पी० श्रीवास्तव की एक कहानी 'इन्दु' में प्रकाशित हुई और इसी वर्ष श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की पहली कहानी कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले 'भारतमित्र' में प्रकाशित हुई। इस दशक ने कई कलाकारों को कहानी के क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया। सन् १९१३ की 'सरस्वती' में स्व० पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक अवतरित हुए और सन् १९१५ में स्व० श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई ? इसके पश्चात् सन् १९१६ में युग-निर्माता प्रेमचन्द जैसे कलाकार का उर्दू से हिन्दी में उदय हुआ और इसके पश्चात् सन् १९२० ई० में श्री सुदर्शन ने भी हिन्दी में प्रवेश कर हिन्दी कहानी के बाल जीवन को गौरवान्वित किया।

हिन्दी कहानी के इसी बाल्यकाल में आदर्शवाद का उदय हुआ। सन् पैंतीस तक के कार्य-काल में आदर्शवादी कहानियों ने अच्छा विकास पाया। सर्वश्री प्रसाद, प्रेमचन्द्र, कौशिक और सुदर्शन ये चारों महारथी आदर्शवादी

कथा-साहित्य के गौरव माने जाते हैं। इसी युग में श्री जैनेन्द्र कुमार, इन पंक्तियों के लेखक, इलाचन्द्र जोशी और श्री अज्ञेय ने हिन्दी कथा में यथार्थवाद के साथ-साथ मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली का प्रचलन किया। इसके पश्चात् सर्वश्री यशपाल, पहाड़ी, लक्ष्मीचन्द्र, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि कथाकारों ने यथार्थवादी तथा प्रगतिवादी प्रवृत्तियों से हिन्दी कथा को और आगे बढ़ाया। इधर पिछले दशक में सर्वश्री अमृतलाल नागर. कमल जोशी, बरुआ, रांगेय राघव, रावी, देवीप्रसाद धवन, तथा ओंकार शरद् आदि कथाकारों ने हिन्दी को कई सुन्दर कहानियाँ भेंट कीं। ध्यान से देखा जाय तो पुराने और नये मिलाकर लगभग बीस ऐसे कथाकार हिन्दी-साहित्य में उपस्थित हैं, जिनको प्राप्त कर कोई भी भाषा गौरवान्वित हो सकती है।

—भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रतिनिधि कहानियाँ

बेड़ी

[जयशंकर 'प्रसाद']

"बाबू, जी एक पैसा !"

मैं सुनकर चौंक पड़ा। कितनी कारुणिक आवाज थी ! देखा तो एक ९-१० वर्ष का लड़का अन्धे की लाठी पकड़े खड़ा था। मैंने कहा—"सूरदास, यह तुमको कहाँ से मिल गया ?"

अन्धे को अन्धा न कहकर सूरदास के नाम से पुकारने की चाल मुझे भली लगी। इस सम्बोधन में उस दीन के अभाव की ओर सहानुभूति और सम्मान की भावना थी, व्यंग न था।

उसने कहा—"बाबू जी, यह मेरा लड़का है—मुझ अन्धे की लकड़ी है। इसके रहने से पेटभर खाने को मांग सकता हूं और दबने कुचलने से भी बच जाता हूँ।"

मैंने उसे इकन्नी दी, बालक ने उत्साह से कहा—"अहा इकन्नी !" बुड्ढे ने कहा—"दाता जुग-जुग जियो !"

मैं आगे बढ़ा और सोचता जाता था, इतने कष्ट से जीवन बिता रहा है उसके विचार में भी जीवन सब से अमूल्य वस्तु है, हे भगवान् !

× × ×

"दीनानाथ करी क्यों देरी ?"—दशाश्वमेध की ओर जाते हुए मेरे कानों में एक प्रौढ़ स्वर सुनाई पड़ा। उसमें सच्ची विनय थी—वही, जो तुलसीदास की विनयपत्रिका में ओतप्रोत है। वही आकुलता, सान्निध्य की

पुकार, प्रबल प्रहार से व्यथित की कराह! मोटर की दम्भ भरी भीषण भों-भों में विलीन होकर भी वायुमंडल में तिरने लगी। मैं अवाक् होकर देखने लगा, वही बुड्ढा! किन्तु आज अकेला था। मैंने उसे कुछ देते हुए पूछा—"क्यों जो, आज वह तुम्हारा लड़का कहां है?"

बाबूजी, भीख में से कुछ पैसे चुराकर रखता था, वही लेकर भाग गया! न जाने कहां गया! उन फूटी आँखों से पानी बहने लगा। मैंने पूछा—उसका पता नहीं लगा? कितने दिन हुए?

लोग कहते हैं वह कलकत्ते भाग गया!—उस नटखट लड़के पर क्रोध से भरा हुआ मैं घर की ओर बढ़ा। वहां एक व्यास जी श्रवण-चरित्र की कथा कह रहे थे। मैं सुनते-सुनते उस बालक पर अधिक उत्तेजित हो उठा। देखा तो पानी की कल का धुंआ पूर्व की आकाश में अजगर की तरह फैल रहा था।

× × ×

कई महीने बीतने पर चौक में वही बुड्ढा फिर दिखाई पड़ा। उसकी लाठी पकड़े वही लड़का अकड़ा हुआ खड़ा था। मैंने क्रोध से पूछा—"क्यों बे, तू अन्धे पिता को छोड़कर कहाँ भागा था?" वह मुस्कराता हुआ बोला—"बाबूजी, नौकरी खोजने गया था।" मेरा क्रोध उसकी कर्तव्य बुद्धि से शान्त हुआ। मैंने उसे कुछ देते हुए कहा—"लड़के, तेरी यही नौकरी है, तू अपने बाप को छोड़कर न भागा कर।

बुड्ढा बोल उठा—"बाबूजी, अब यह नहीं भाग सकेगा, इसके पैरों में बेड़ी डाल दी गयी है। मैंने घृणा और आश्चर्य से देखा, सचमुच उसके पैरों में बेड़ी थी! बालक बहुत धीरे-धीरे चल सकता था। मैंने मन ही मन कहा—"हे भगवान्, भीख मँगवाने के लिये, पेट के लिये, बाप अपने बेटे के पैर में बेड़ी भी डाल सकता है! और वह नटखट फिर भी मुस्कराता था! संसार तेरी जय हो!

मैं आगे बढ़ गया।

× × ×

मैं एक सज्जन की प्रतीक्षा में खड़ा था, आज नाव पर घूमने का उनसे

निश्चय हो चुका था। गाड़ी, मोटर, तांगे टकराते-टकराते भागे जा रहे थे, सब जैसे व्याकुल। मैं दार्शनिक की तरह उनकी चंचलता की आलोचना कर रहा था। सिरस के वृक्ष की आड़ में फिर वही कण्ठस्वर सुनाई पड़ा। बुड्ढे ने कहा—"बेटा, तीन दिन और न ले पैसा। मैंने रामदास से कहा है, सात आने में तेरा कुरता बन जायगा। अब ठंडक पड़ने लगी है, उसने ठुनकते हुए कहा—"नहीं, आज मुझे दो पैसा दो। मैं कचालू खाऊँगा। वह देखो, उस पटरी पर बिक रहा है। बालक के मुँह और आँख में पानी भरा था! दुर्भाग्य से बुड्ढा उसे पैसा नहीं दे सकता था। वह न देने के लिए हठ करता ही रहा; परन्तु बालक ही की विजय हुई। वह पैसा लेकर सड़क की उस पटरी पर चला। उसके बेड़ी से जकड़े हुए पैर पैंतरा काट कर चल रहे थे। जैसे युद्ध-विजय के लिये।

नवीन बाबू ४० मील की स्पीड से मोटर अपने हाथ से दौड़ा रहे थे। दर्शकों के चीत्कार से बालक गिर पड़ा। भीड़ दौड़ी, मोटर निकल गई। और वह बुड्ढा विकल हो रोने लगा—अन्धा किधर जाय!

एक ने कहा—"चोट अधिक नहीं।"

दूसरे ने कहा—"हत्यारे ने बेड़ी पहना दी है, नहीं तो क्यों चोट खाता।" बुड्ढे ने कहा—"काट दो बेड़ी, बाबा मुझे न चाहिये।"

और मैंने हतबुद्धि होकर देखा कि बालक के प्राण-पखेरू अपनी बेड़ी काट चुके थे।

बूढ़ी काकी

[प्रेमचन्द]

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इंद्रियाँ, नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहतीं और जब घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, या भोजन का समय टल जाता, उसका परिमाण पूर्ण न होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वह गला फाड़-फाड़कर रोती थीं।

उनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालांतर हो चुका था। बेटे तरुण हो होकर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी थी। भतीजे ने सम्पत्ति लिखाते समय तो खूब लम्बे-चौड़े वादे किए, परन्तु वे सब वादे केवल कुली डिपो के दलालों के दिखाए हुए सब्ज बाग थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़-दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पंडित बुद्धिराम का अपराध था अथवा उनकी अर्द्धांगिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक जब तक कि उनके कोष पर कोई आँच न आए। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थीं। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी द्धिबु राम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुस बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती; परन्तु विशेष व्यय का भय उनकी सच्चेष्टा को दबाये रखता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगतीं तो वह आग हो जाते और घर में आकर उन्हें जोर से डाँटते। लड़कों को बुड्ढों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है और फिर जब माता-पिता का यह रंग देखते तो बूढ़ी काकी को और भी सताया करते। कोई चुटकी काट कर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता। काकी चीख मारकर रोतीं, परन्तु यह बात प्रसिद्ध थी कि वह केवल खाने के लिए रोती हैं; अतएव उनके सन्ताप और आर्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी कभी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगती तो रूपा घटनास्थल पर अवश्य आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा-कृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव-शान्ति का यह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाडली थी। लाडली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई चबेना बूढ़ी काकी के पास बैठ कर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में प्रेम और सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर सहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुंड विस्मयपूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वादन कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमानों

के "वाह, वाह" पर ऐसा खुश हो रहा था मानों इस वाह-वाह का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो एक अँगरेजी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गवाँर-मंडली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के सुखराम का तिलक आया है। यह उसी का उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्टियों पर कड़ाह चढ़े थे। एक में पूड़ियाँ-कचौरियाँ निकल रही थीं। दूसरे में अन्य पकवान बन रहे थे। एक बड़े हंडे में मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधावर्द्धक सुगंधि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचार की भांति बैठी हुई थीं। वह स्वाद-मिश्रित सुगंधि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन ही मन विचार कर रही थीं, संभवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गई, कोई भोजन लेकर नहीं आया, मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके। मेरे लिए कुछ न बचा। यह सोच कर उन्हें रोना आया; परंतु अशकुन के भय से वह रो न सकीं।

"आहा! कैसी सुगंधि है! अब मुझे कौन पूछता है? जब रोटियों ही के लाले पड़े हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भर पेट पूड़ियाँ मिलें?"—यह विचार कर उन्हें रोना आया, कलेजे में एक हूक-सी उठने लगी। परंतु रूपा के भय से उन्होंने फिर भी मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक इन्हीं दुःखदायक विचारों में डूबी रहीं। घी और मसालों की सुगंधि रह-रह कर मन को आपे से बाहर किए देती थी। मुँह में पानी भर-भर आता था। पूड़ियों का स्वाद स्मरण करके हृदय में गुदगुदी होने लगती थी। किसे पुकारूँ; आज लाड़ली बेटी भी नहीं आई। दोनों छोकड़े सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है।

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब लाल-

लाल, फूली-फूली, नरम-नरम होंगी; रूपा ने भली भांति मोयन दिया होगा। कचौरियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूरी मिलती तो जरा हाथ में लेकर देखती। क्यों न चल कर कड़ाह के सामने ही बैठूँ। पूड़ियाँ छन-छनकर तैरती होंगी। फूल हम घर में भी सूंघ सकते हैं, परंतु वाटिका में और कुछ बात होती है। इस प्रकार निर्णय करके बूढ़ी काकी उकड़ूं बैठकर हाथों के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई से चौखट से उतरीं और धीरे-धीरे रेंगती हुई कड़ाह के पास जा बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खाने वाले के सम्मुख बैठने में होता है।

रूपा उस समय कार्य-भार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे में; कभी कड़ाह के पास आती, कभी भंडार में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—महाराज ठंडई माँग रहे हैं। ठंडई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आकर कहा—भाट आया है, उसे कुछ दे दो। भाट के लिये सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा—"अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है? जरा ढोल-मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ती-दौड़ती व्याकुल हो रही थी, झुंझलाती थी, कुढ़ती थी, परंतु क्रोध प्रकट होने का अवसर न पाती थी। भय होता कहीं पड़ोसिनें यह न कहने लगें कि कि इतने में ही उबल पड़ीं, प्यास से स्वयं उसका कंठ सूख रहा था। गर्मी के मारे फूँकी जाती थी, परंतु इतना अवकाश भी नहीं था कि जरा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। यह भी खटका था कि जरा आँख हटी और चीजों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाही के पास बैठा देखा तो जल गई। क्रोध न रुक सका। इसका भी न ध्यान रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं मन में क्या कहेंगी, पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेढ़क केंचुए पर झपटता है, उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झिंझोड़ कर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़? कोठरी में बैठते क्या दम घुटता था? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा,

तब तक धैर्य न हो सका ? आकर छाती पर सवार हो गईं। जल जाय ऐसी जीभ। दिन भर खाती न होतीं तो न जाने किसकी हाँड़ी में मुँह डालतीं ? गाँव देखेगा तो कहेगा बुढ़िया भरपेट खाने को नहीं पाती, तब तो इस तरह मुँह बाए फिरती है। डाइन न मरे न माँचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवाकर दम लेगी। इतना ठुँसती है, न जाने कहाँ भस्म हो जाता है। लो ! भला चाहती हो तो जाकर कोठरी में बैठो, जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुँह में पानी न जाय; परंतु तुम्हारी पूजा पहले हो जाय। बूढ़ी काकी ने सिर न उठाया, न रोईं, न बोलीं। चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी में चली गईं। आघात ऐसा कठोर था कि हृदय और मस्तिष्क की संपूर्ण शक्तियाँ, संपूर्ण विचार और संपूर्ण भार उसी ओर आकर्षित हो गए थे। नदी में जब करार का कोई वृहद् खंड कट कर गिरता है तो आसपास का जल-समूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है।

भोजन तैयार हो गया। आँगन में पत्तल पड़ गये। मेहमान खाने लगे। स्त्रियों ने जेवनार-गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेहमानों के नाई और सेवकगण भी उसी मंडली के साथ, किन्तु कुछ हट कर, भोजन करने बैठे थे, परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सब के सब खा न चुके कोई उठ नहीं सकता था। दो-एक मेहमान जो कुछ पढ़े-लिखे थे सेवकों के दीर्घाहार पर झुंझला रहे थे। वे इस बन्धन को व्यर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में जाकर पश्चाताप कर रही थीं कि मैं कहाँ से कहाँ गई। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाजी पर दुःख था। सच ही तो है जब तक मेहमान लोग भोजन न कर चुकेंगे घरवाले कैसे खाएँगे। मुझसे इतनी देर भी नहीं रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आएगा न जाऊँगी।

मन-ही-मन इसी प्रकार विचार कर वह बुलावे की प्रतीक्षा करने लगीं। परन्तु घी का रुचिकर सुवास बड़ा ही धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रहा था। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गए

होंगे। अब मेहमान आ गए होंगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं, नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गए। जेवनार गाया जा रहा है, यह विचार कर वह मन को बहलाने के लिए लेट गईं। धीरे-धीरे एक गीत गुनगुनाने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गई। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे। किसी की आवाज नहीं सुनाई देती। अवश्य ही लोग खा-पीकर चले गए। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ़ गई है क्या जाने न बुलाए, सोचती हो कि आप आवेंगी, वह कोई मेहमान तो हैं नहीं जो उन्हें बुलाऊं। बूढ़ी काकी चलने के लिए तैयार हुई। यह विश्वास कि एक मिनट में पूड़ियाँ और मसालेदार तरकारियाँ सामने आएँगी उनकी स्वादेन्द्रियों को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह-तरह के मंसूबे बांधे—पहले तरकारी से पूड़ियाँ खाऊँगी, फिर दही और शक्कर से; कचौरियां रायते के साथ मजेदार मालूम होंगी। चाहे कोई बुरा माने चाहे भला, मैं तो माँग माँगकर खाऊँगी। यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं? कहा करें, इतने दिनों के बाद पूड़ियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ आऊँगी।

वह उकड़ूं बैठकर हाथों के बल खसकती आँगन में आई। परन्तु हाय दुर्भाग्य! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान-मंडली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर उँगलिआँ चाटता था, कोई तिर्छे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं? कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूड़ियाँ छूटी जाती हैं किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाकर जीभ चटकारता था, परन्तु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था। इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुँचीं। कई आदमी चौंक कर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—अरे यह बुढ़िया कौन है? यह कहाँ से आ गई? देखो किसी को छू न दे।

पंडित बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गए; पूड़ियों का थाल लिए खड़े थे। थाल को जमीन पर पटक दिया और जिस प्रकार नर्दयी महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े असामी को देखते ही झपटकर

उसका टेटुआ पकड़ लेता है उसी तरह लपक कर उन्होंने बूढ़ी काकी के दोनों हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें अँधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशा-रूपी-वाटिका लू के एक ही झोंके से नष्ट-विनष्ट हो गई।

मेहमानों ने भोजन किया। घरवालों ने भोजन किया। बाजेवाले, धोबी, चमार भी भोजन कर चुके, परन्तु बूढ़ी काकी को किसी ने न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उसकी निर्लज्जता के लिए दंड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर, हत-ज्ञान पर किसी को करुणा न आती थी। अकेली लाडली उनके लिए कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यन्त प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उसमें गंध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठ कर रह गया। वह झुँझला रही थी कि यह लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं दे देते? क्या मेहमान सब की सब खा जायँगे? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जाएगा? वह काकी के पास जा कर उन्हें धैर्य देना चाहती थी; परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिलकुल न खाई थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर रक्खी थीं। वह उन पूड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी। पूड़ियाँ देख कर कैसी प्रसन्न होंगी! मुझे खूब प्यार करेंगी!

रात के ग्यारह बज गए। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाडली की आँखों में नींद न आती थी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्मा सोर ही हैं; तो वह चुपके-से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूँ। चारों ओर अँधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी; और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाडली की दृष्टि द्वार के सामने नीम की ओर गई। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमान जी बैठे हुए हैं। उनकी पूँछ, उनकी गदा, सब स्पष्ट दिखलाई दे रही थी। मारे भय के उसने

आँखें बंद कर लीं, इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाडली को ढाढ़स हुआ। कई सोए हुए मनुष्यों के बदले एक जागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिकतर धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठाई और बूढ़ी काकी की कोठरी की ओर चली।

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसी ने मेरे हाथ पकड़ कर घसीटे, फिर ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई पहाड़ पर उठाए लिए जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थरों से टकराए तब किसी ने उन्हें पहाड़ पर से पटका, और वे मूर्छित हो गईं।

जब वे सचेत हुईं तो किसी की जरा भी आहट न मिलती थी। समझा कि सब लोग खा-पीकर सो गए और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गई। रात कैसे कटेगी? राम! क्या खाऊँ, पेट में अग्नि धधक रही है? हा! किसी ने मेरी सुधि न ली! क्या मेरा ही पेट काटने से धन जुट जायगा! इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती कि न जाने बुढ़िया कब मर जाय? उसका जी क्यों दुखावें? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ? इस पर यह हाल! मैं अंधी अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूँ न बूझूँ, यदि आँगन में चली गई तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि काकी अभी लोग खा रहे हैं, फिर आना। मुझे घसीटा, पटका। उन्हीं पूड़ियों के लिए रूपा ने सबके सामने गालियाँ दीं। उन्हीं पूड़ियों के लिए इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सब को खिलाया, मेरी बात तक न पूछी। जब तब ही न दीं, तब अब क्या देंगी?

यह विचार कर काकी निराशामय संतोष के साथ लेट गईं। ग्लानि से गला भर-भर आता था, परंतु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज आई—"काकी उठो, मैं पूड़ियाँ लाई हूँ।"

काकी ने लाडली की बोली पहचानी। चटपट उठ बैठीं। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया।

लाडली ने पूड़ियाँ निकाल कर दीं। काकी ने पूछा—"क्या तुम्हारी

अम्मा ने दी हैं ?" लाडली ने कहा—"नहीं यह मेरे हिस्से की हैं।" काकी पूड़ियों पर टूट पड़ीं। पाँच मिनट में पिटारी खाली हो गई।

लाडली ने पूछा—"काकी, पेट भर गया ?" जैसे थोड़ी-सी वर्षा ठंडक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर देती है उसी भाँति इन थोड़ी-सी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को उत्तेजित कर दिया था। बोलीं—"नहीं बेटी, जा कर अम्मा से और माँग लाओ।" लाडली ने कहा—"अम्मा सोती हैं, जगाऊँगी तो मारेंगी।"

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हें निकाल कर वे खा गईं। बार-बार होंठ चाटती थीं। चटखारें भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूड़ियाँ कैसे पाऊँ। संतोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। मतवालों को मद का स्मरण कराना उन्हें मदांध बनाना है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोलीं—"मेरा हाथ पकड़ कर वहाँ ले चलो जहाँ मेहमानों ने बैठ कर भोजन किया है।"

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसने काकी का हाथ पकड़ा और ले जा कर जूठे पत्तलों के पास बिठला दिया। दीन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बूढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुन कर भक्षण करने लगी। ओह ! दही कितना स्वादिष्ट था, कचौरियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धिहीन होते हुए भी इतना जानती थी कि मैं वह काम कर रही हूँ जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों के जूठे पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा-रोग का अन्तिम समय है, जब संपूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ सकती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठ बैठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से

पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठा कर खा रही है। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देख कर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों का जूठा पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असंभव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है! यह वह दृश्य था जिसे देख कर देखने वालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता मानों जमीन रुक गई, आसमान चक्कर खा रहा है, संसार पर कोई नई विपत्ति आने वाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहाँ? करुणा और भय से उसकी आँखें भर आईं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है? उसने सच्चे हृदय से गगन-मंडल की ओर हाथ उठा कर कहा—"परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो, इस अधर्म का दंड मुझे मत दो नहीं तो हमारा सत्यानाश हो जायगा।"

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष-रूप में कभी न देख पड़ा था। वह सोचने लगी—हाय! कितनी निर्दय हूँ। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति! और मेरे कारण! हे दयामय भगवान्! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिए; परंतु जिसकी बदौलत हजारों रुपये खाए उसे इस उत्सव में भी भर-पेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो कि वह वृद्धा है, असहाय है।

रूपा ने दिया जलाया, अपने भंडार का द्वार खोला और एक थाली में संपूर्ण सामग्रियाँ सजा कर लिए हुए काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी, आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देवगण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे, परंतु उनमें किसी को वह परमानंद प्राप्त न हो सकता था जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल देख कर प्राप्त हुआ। रूपा ने कंठावरुद्ध स्वर में कहा—"काकी उठो,

भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसका बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना कर दो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दें।"

भोले-भाले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाता है, बूढ़ी काकी बैठी हुई खाना खा रही थी। उनके एक-एक रोएँ से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा वैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनंद लूटने में निमग्न थी।

दही की हाँड़ी

[चतुरसेन शास्त्री]

सत्रहवीं शताब्दी खतम हो रही थी और उसके साथ राजपूताने का ओजपूर्ण जीवन भी अस्तंगत हो रहा था। बादशाह आलमगीर दक्षिण के कभी समाप्त न होने वाले युद्धों में फंसा था। वह वृद्ध हो गया था; और रोग उसे घेरे रहते थे। वह अपने ५० वर्ष भयानक परिश्रम के निरर्थक शासन के भविष्य को समझ गया था। वह रूठे हुए राजपूतों को जो मुगल राज्य के खम्भे थे, मनाने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा था। लोग उससे थक गए थे। वह अपने भक्त-भरे हाथों का स्वप्न देखता था, और मूर्खतापूर्ण साम्प्रदायिकता पर पश्चात्ताप करता था।

मारवाड़ के प्रतापी योधा जसवन्त सिंह का देहान्त हो चुका था। और उनके वीर पुत्र अजीतसिंह जालौर में पड़े वृद्ध बादशाह की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। औरंगजेब का सूबेदार नाजिम कुली जोधपुर का गवर्नर था। मारवाड़ की निरीह प्रजा जसवंत नाहर को खोकर जैसे-तैसे मुगलों के अत्याचार सहन कर रही थी। मनुष्य जाति का महाशत्रु आलमगीर कब मृत्यु शय्या पर गिरे, महाराज अजीतसिंह और दुर्गादास को कब अभिसंधि प्राप्त हो—जोधपुर का कब उद्धार हो—लक्षावधि मारवाड़ी प्रजा इसी प्रतीक्षा में थी।

× × ×

ग्रीष्म समाप्त हो रहा था। सुन्दर प्रभात का सूर्य धीरे धीरे ऊपर चढ़ रहा था। आकाश में जहां-तहां बदली दीख पड़ती थी। सोजन गांव से बाहर मुगल सेना पड़ाव डाले पड़ी थी। यह सिउना के किले कुमक लेकर

जा रही थी। जिसका रक्षक मुर्तजा बेग मेवाती था और जिसे दो मास से राठौरों ने घेर रखा था।

चार सिपाही झूमते-झामते गांव में घूम रहे थे। उनके साथ एक खच्चर था। ऊपर बहुत सी खाद्य सामग्री थी। उनकी घनी काली दाढ़ी, लाल-लाल आँखें, चमकीले जिरह बखतर और घमण्ड भरी चाल तथा कामुकता-भरी दृष्टि को देख कर स्त्रियां और बच्चे भयभीत हो रहे थे। बच्चे गलियों में छिप जात थे, और स्त्रियां घरों में। गांव में सन्नाटा था। सब लोग चुपचाप अपने अपने घरों में छिप बैठ थे, उन्हें जिस जिन्स की आवश्यकता होती, वह उन्हें गांव में जहां दीख जाती, उठा कर बिना संकोच खच्चर पर लाद लेते थे। वे अपनी खूंख्वार आंखों से गांव के आबाल वृद्ध को घूरते हुए, घनी काली दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए, कमर की तलवार को अनावश्यक रीति पर हिलाते हुए निर्भय घूम रहे थे। इक्का-दुक्का स्त्रियां घाट-खेत में यदि वे देख पाते तो छेड़ देते थे। स्त्रियां भाग कर घरों में घुस जाती थीं। वृद्ध पुरुष उन्हें देखते ही गर्दन नीची कर लेते थे। युवक गण चुपचाप दांत पीसते और ठंडी सांस लेते थे। गांव में एक भी ऐसा माई का लाल न था जो उनकी लूटपाट और अत्याचार का विरोध करे।

देखते देखते सूरज सिर पर चढ़ आया। चारों के शरीर पसीने से भींग कर तर हो गये, एक ने कहा—उफ गजब की गर्मी है। जल्दी करो, फिर आग बरसने लगेगी। इस कमबख्त मुल्क में पानी भी तो नहीं बरसता! दूसरे ने कहा—ठीक कहते हो, मगर दही? दही तो अभी मिला ही नहीं। खां साहब हमें खा न जावेंगे? इस पर तीनों ने ठहाका मार कर हंस दिया।

सामने एक वृद्ध पुरुष नंगे बदन अपने घर के द्वार पर चारपाई पर बैठा ५-६ वर्ष के एक बालक को खिला रहा था। बालक अत्यन्त सुन्दर और पुष्ट था। चारों यम-सदृश व्यक्तियों को अपनी ओर आते देख बच्चा भय से वृद्ध की छाती में चपक रहा।

उसने भय से कम्पित स्वर में कहा—"बाबा, तुर्क तुर्क आ रहे हैं।"

"कुछ डर नहीं बेटे। तुम घर में जाओ।" इतना कह कर वृद्ध ने

बालक को घर में भेज दिया। और आप स्वयं आगे बढ़ कर उनसे पूछने लगा—"आप लोग किसे ढूंढ़ रहे हैं ?"

"दही चाहिए बुड्ढे, दही।" दही घर में है ? एक ने कर्कश स्वर में कहा।

"मेरे यहाँ दही नहीं होता, मैं ब्राह्मण हूँ, यह ठाकुरों का घर है, शायद हो; पर ठाकुर घर में नहीं हैं, तुम ठहरो, मैं पूछ कर देख आता हूँ।" वृद्ध ने इतना कहा और ठाकुर के घर की ओर कदम बढ़ाया।

"हम लोग खुद देख लेंगे।" यह कह कर चारों उद्दण्ड सिपाही घर में घुसने लगे।

वृद्ध ने बाधा दे कर कहा—"यह नहीं हो सकता। वहां स्त्रियां हैं, मर्द कोई घर पर नहीं है, तुम लोग भीतर नहीं घुस सकते, तुम लोग यहीं ठहरो।"

बूढ़े की बात मुँह ही में रही। उसकी बात का उत्तर दिए विना ही एक सिपाही ने जोर से बूढ़े के मुँह पर घूंसा मारा। वृद्ध तुरन्त धरती में गिर पड़ा। चारों सिपाही घर के भीतर घुस गए। और क्षण-भर में दही की भरी हाँड़ी उठा कर अपने रास्ते लगे।

घर के भीतर से स्त्रियों की एक हल्की चीत्कार-ध्वनि सुनाई दी—ग्रामवासी चित्र-लिखित से देखते रहे।

(३)

ठाकुर अधेड़ अवस्था को पार कर गया था। उसकी दाढ़ी के १२ आने बाल पक गए थे; पर कमर उसकी झुकी न थी, मूछें चढ़ी थीं। वह लम्बे कद का छरहरा आदमी था. शरीर पर वह केवल धोती पहने था, पैर भी नंगे थे।

घर लौट कर उसने द्वार ही पर सब माजरा सुना, वह पल-भर वहां रुका, फिर भीतर घर में घुस गया। एक ही मिनट के बाद वह घर से बाहर था, उसके हाथ में नंगी तलवार थी और उसकी भृकुटी में बल पड़े थे।

उसने कसकर दोनों होठों को सम्पुट कर लिया था, उसकी आँखों से आग बरस रही थी।

गाँव के बहुत लोग वहां जमा हो गए थे। सब ने ठाकुर को निषेध किया। एक-दो वृद्धों ने उसका हाथ भी पकड़ कर रोका, लोग उसे समझा रहे थे—बादशाह की सेना से बैर लेना ठीक नहीं, तुच्छ दही की एक हांड़ी थी, आखिर औकात ही क्या है, जाने दो, अपने बाल-बच्चों की खैर मनाओ, जो हो गया, सो हो गया।

ठाकुर लोहे के खम्भे की भाँति मुट्ठी में नंगी तलवार लिए सब के बीच में खड़ा था। उसकी दृष्टि उन सब से परे अदृश्य में थी—सब की बातें सुन कर उसने बादल के समान गर्ज-भरे स्वर में कहा—

"यह सब ठीक है भाइयो, परन्तु यदि वे मुझसे मांगते तो मैं नाहीं न करता। आप जानते ही हैं कि मैं गरीब राजपूत हूँ, पर फिर भी मेरे द्वार से कोई खाली नहीं लौटता। फिर ये तो राज के आदमी थे, इनकी सेवा करना प्रजा का धर्म भी था; परन्तु मेरे घर में मेरी गैरहाजिरी में घुस जाना और जबर्दस्ती दही उठा ले जाना मैं सहन नहीं कर सकता। आज वे दही की हांड़ी ले गए हैं—कल को वे मेरी बहू-बेटी को भी पकड़ कर ले जा सकते हैं।

उसने एक कठोर दृष्टि से भीड़ की ओर देखा, एक बार कस कर तलवार थांमी, और आगे बढ़ा। वह लोह-पुरुष की भाँति कदम बढ़ाता जा रहा था। भीड़ पीछे हट गयी थी। धीरे धीरे उसके पैर तेज होने लगे। गांव के लोग चुपचाप पीछे दौड रहे थे।

(४)

वे चारों मजे में गप्पे उड़ाते, खच्चर को टरकाते धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। अभी वे गांव के सिवाने से बाहर न निकले थे। ठाकुर ने पीछे से ललकार बतायी—'खड़े रहो, ओ लुटेरो।'

चारों लौट कर खड़े हो गए। देखा—बूढ़ा राजपूत नंगी तलवार लिए आगे बढ़ रहा है। उसके पैर में जूता नहीं है, बदन में सिर्फ धोती है, सिर पर पाग है। वह कालपुरुष की भांति आ रहा था।

चारों मुगलों ने तलवारें खींच लीं। राजपूत ने एकाएक पीछे मुड़ कर देखा। क्षण-भर खड़े हो कर उसने गांववालों से कहा—

"बस, यहां से आगे कोई न बढ़े, मेरा अकेले का उनसे झगड़ा है! उसमें किसी का साझा नहीं है, मैं उनसे निबट लूंगा।"

भीड़ वहीं रुक गयी। ठाकुर कुछ कदम और आगे बढ़ा। चारों सिपाही वहीं खड़े थे। एक के हाथ में दही की हांड़ी थी। ठाकुर ने ललकार कर कहा—"मेरी दही की हांड़ी रख दे।"

सिपाही ने तलवार हवा में घुमा कर कहा—भला बे काफिर, तेरी यह औकात! अभी तुझे इस गुस्ताखी का मजा चखाता हूँ। ठाकुर ने सिंह की भांति उछाल भरी। वह उन चारों के बीच में था। एक ही बार में बकवाद करने वालों का सिर उसने भुट्टे-सा उड़ा दिया—शेष तीनों जमकर युद्ध करने लगे। कुछ क्षण के बाद दूसरा आदमी भी धराशायी हुआ। शेष दो उछल-उछलकर तलवारों की मार करने लगे। राजपूत ने एक जनेऊआ हाथ देकर तीसरे के भी दो टुकड़े कर दिये।

चौथा आदमी भाग खड़ा हुआ। राजपूत ने दही की हांड़ी उठायी और गांव की ओर चला। उसके शरीर में बहुत से घाव लगे थे, उनसे खून की धार बह रही थी। उन सब की उसे परवा न थी। तलवार उसी भांति उसकी लोहमुष्टि में बन्द थी—गांव के लोग सन्नाटे में आकर देख रहे थे। एक शब्द भी किसी के मुँह पर न था। ठाकुर आगे-आगे था, और उसकी देह से टपकती हुई रक्त की बूंदों के दोनों ओर गांव के आबालवृद्ध लौट रहे थे।

(५)

घर के आंगन में आ कर उसने दही की हांड़ी गोबर से लिपे हुए तुलसी के चबूतरे पर रख दी। फिर उसने हाथ जोड़ कर तुलसी के वृक्ष को नमस्कार किया। गांव के लोगों ने उसे घावों पर पट्टी बांधने को कहा; परन्तु उसने एक न सुना। उसने सब को घर से बाहर चले जाने की आज्ञा दी—इसके बाद वह घर के भीतर गया। कोठरी का एक कोना खोदा—कुछ मुहरें और सोने के गहने थे। वह पोटली उसने हाथ में ली। अपने ११

वर्ष के एकमात्र बेटे का हाथ पकड़ा और घर के बाहर आया। एक शब्द भी उसके मुख से नहीं निकला था। गांव-भर उसके द्वारपर एकत्रित था—सब विस्मय और भयपूर्ण दृष्टि से उसे घूर रहे थे। उसने उसी मेघ के समान गरजती आवाज में वृद्ध ब्राह्मण को निकट आने को कहा। पास आने पर उसने पुत्र का हाथ और वह सोने की पोटली ब्राह्मण के हाथ में दे कर कहा—"आज से यह पुत्र तुम्हारा हुआ दादा! यह इसके भरण-पोषण का खर्च है।" उसकी वाणी कम्पित हुई। पर उसने गर्व से गर्दन तान ली। रक्त झर-झर उसके शरीर से गिर रहा था। और वह दाहिने हाथ में तलवार कस कर पकड़े हुए था।

वह फिर घर के भीतर गया। घर में पत्नी, माता और विधवा वहिन थीं। तीनों के सामने पहुँच कर उसने कहा—तुम तीनों इस चबूतरे पर आ बैठो—और भगवान का स्मरण करो, आज भगवान् की गोद में जाने का समय आ गया। तीनों अकम्पित पद से वहाँ आ कर बैठ गयीं। सब से प्रथम उसने माता के चरण छू कर पदरज आंखों में लगायी। उसकी तलवार उठी और वृद्धा का सिर कट कर तुलसी के पेड़ पर जा गिरा। इसके बाद उसने बहिन के सिर पर हाथ रखा—उसकी आंखों में तरी आयी, पर दूसरे ही क्षण तलवार लड़की की गर्दन पर पड़ी और उसका सिर भी वृद्धा के बराबर जा गिरा। इसके बाद पत्नी की ओर उसने देखा—वह पति के चरणों में सिर दिये लोट रही थी। ठाकुर के शरीर का रक्त उसके ऊपर टपक-टपक कर सौभाग्य का सिंचन कर रहा था। ठाकुर ने कहा—उठो, रामू की मां, एक बार गले मिल लें, फिर तो हम स्वर्ग में मिलेंगे।

पत्नी को उठा कर उसने हृदय से लगाया। उसने कहा—हम लोगों ने बचपन से बुढ़ापे के द्वार तक दौड़ लगायी। जीवन में हमने सिर्फ एक पुत्र पाया। उसे आज अचानक छोड़ना पड़ा। पर कुछ हर्ज नहीं प्यारी, आज नहीं तो कल मरते ही। राजपूत की भांति मरने में कुछ और ही आनन्द है। आओ, अधिक मोह न करो।

ठकुरानी ने गर्दन झुका दी और वह घुटनों के बल धरती पर बैठ गयी। राजपूत ने खूब जोर से अपना होंठ दांतों में भींचा, उनसे रक्त भी निकल आया। उसने एक भरपूर हाथ पत्नी की गर्दन पर दिया और वह सिर भी अपनी सास की पंक्ति में जा गिरा।

क्षण-भर उसने तीनों देवियों की फड़कती लाशों को देखा। इसके बाद उसने घर में चारों तरफ दृष्टि दौड़ायी। रसोई में आग जल रही थी। घी का बड़ा-सा हण्डा भरा धरा था—वह सब उसने छप्पर पर उड़ेल दिया, घर धांय-धांय जलने लगा।

अब वह उसी तलवार को उसी प्रकार कस कर कलाई में थाम्हे बाहर आया। गांव के नर-नारी धाड़ें मार-मार कर रो रहे थे।

वह चबूतरे पर चढ़ कर इधर-उधर टहलने लगा।

(६)

अल्ला-हो अकबर के विकट चीत्कार से गांववालों के कलेजे दहल गए। स्त्रियां और बच्चे भाग कर घरों में घुस गए। मुगल सेना तलवारें चमकाती हुई धड़धड़ाती गांव में घुस आयीं। लोग भयभीत होकर भागे। ठाकुर ने कठोर दृष्टि से एक बार गांव के कायर पुरुषों को देखा। वह एक हुंकार भर कर भीमवेग से शत्रुओं पर टूट पड़ा। सैकड़ों शस्त्र क्षण भर में उसके घायल शरीर में धंस गए और उसके अंग कट कट कर गिरने लगे। वह भी गिरा।

उसने अपनी मुमूर्ष आंखों को एक बार उठाया। उसने देखा—गांव का बच्चा-बच्चा तलवारें ले कर शत्रु-सेना पर टूट पड़ता है। उसने संतोष की एक सांस ली और दम तोड़ दिया।

वह गांव मुगलों ने जला कर खाक कर दिया। परन्तु जब तक गांव का एक बच्चा भी जिन्दा रहा—तलवार चलाता रहा।

निदिया लागी

[भगवतीप्रसाद वाजपेयी]

कालेज से लौटते समय मैं अक्सर अपने नये बँगले को देखता हुआ घर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहव रोजाना, सुवह-शाम, देख-रेख के लिए आ जाते थे। वे मझले-भैया के सहपाठी मित्रों में से थे। लम्बा कद, गौर वर्ण, लम्बी नाक—खूबसूरत और मुख पर उल्लास का अभिनव अलोक। गम्भीर भी होते तो प्रायः मालूम यही होता कि मुसकरा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था। और अवस्था? अवस्था उनकी अव पैंतालिस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मजदूर, सब मिला कर, कोई पचीस-तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मजदूरों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

एक दिन मैंने देखा छत कूटी जा रही है। कूटने वालों में स्त्रियाँ ही हैं; अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं, लेकिन वे जरा हटकर, एक कोने में हैं। स्त्रियां छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है; किन्तु अनेक सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है और जिसका कंठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मैं मानता हूं कि यह मेरी दुर्बलता थी; किन्तु उन दिनों मेरी समझ में यह बात कैसे आती!

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहव सामने आ गये। बोले—आ गये छोटे-भैया!

मैंने उनकी ओर देख कर जरा-सा मुसकरा दिया और कहा—जान तो मुझे भी ऐसा ही पड़ता है।

हँसते हुए उन्होंने तब कहा—लेकिन दर-असल आप आये नहीं। आप समझते हैं दुनिया की नजरों में जो आप यहां मौजूद हैं, इतने से ही मैं यह मान लूँ कि आप पूरे सोलह-आने-भर आ गये हैं? और जो कहीं आप अपना 'कुछ' छोड़ आये हों, तो?

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट—बिलकुल निकट आ गये! बोले—जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, तब मैं कैसा था, सच जानिए, आपको देख कर जब मुझे उसकी याद आ जाती है, तो जी मसोसने लगता है। तबीयत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूँ, जिससे कुछ शान्ति मिले। लेकिन फिर यही सोच कर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है। न आकाश में, न महासागर के अतल में, न गिर-गह्वर में—संसार में कहीं भी, कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहाँ पहुँच कर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके।

बेनी बाबू के मुख पर अगमनीय गम्भीरता की छाप थी, यद्यपि अपने विमल हास से वे उसे छिपाना चाहते थे। मैंने कहा—आप मेरे अध्ययन की चीज हैं, यह मुझे आज मालूम हुआ।

एक ओर चलते हुए वे बोले—अभी आप को कुछ भी नहीं मालूम हुआ है।

किन्तु बेनी बाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो पाया था, इसलिए मैं उनके पीछे-पीछे चल दिया।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जा कर वे खड़े हो गये वह आर्च (Arch) बनाने जा रहा था। बोले—देखो जी मिस्त्री, पत्तियाँ और फूल बनाना ही काफी नहीं है। टहनी और उसमें उभड़े हुए काँटे भी दिखाने होते हैं। माना कि नकल नकल है, असल चीज वह कभी हो नहीं सकती; किन्तु असल चीज की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नकल में यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नकल भी

नकल नहीं हो सकती। बनाने में तुमको अगर दिक्कत हो, तो मैं नमूना दे जा सकता हूँ; लेकिन मेरी तबीअत की चीज अगर तुम न बना सके तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चल कर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा।

मिस्त्री वृद्ध था। उसके बाल पक गये थे। उसकी आँखों पर पुरानी चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था। बड़े गौर से वह बेनी बाबू की ओर देखने लगा; लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। तब बेनी बाबू वहाँ और अधिक ठहर न सके।

अब वे आंगन में एक टब के पास खड़े थे। नल का पानी टब में गिर रहा था। मैं थोड़ा पीछे था। जब उनके निकट पहुँचा, तो वे बोले—आपने इस मिस्त्री की आँखों को देखा? वह कुछ कह नहीं सका था; लेकिन उसकी आँखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका। वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कह के उसको चोट पहुँचाने, उसका अपमान करने, की चेष्टा की है; किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता, कि मेरी बात का कोई उत्तर न देकर उसने मुझ पर कैसा भयंकर आघात किया है? एक वह नहीं, मालूम नहीं, कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं, जो मुझे गलत समझते हैं। आज पन्द्रह वर्षों से, बल्कि और भी अधिक काल से, मुझे जहाँ-कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने इस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है। मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना डाँटा है कि वह रो दिया है, तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे तीखा उत्तर दिया हो। उसका वही पुराना चश्मा है, वैसी ही भीतर तक प्रविष्ट हो जाने वाली आंखें। उसने कभी मजदूरी मुझसे तय नहीं की। और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर, मजदूरी के अतिरिक्त, उसने दस-पन्द्रह रुपये पुरस्कार न प्राप्त किये हों.....किन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हुए भी डाँटना तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे कलाकार की सुप्त कल्पना को जागरण मिलता है।

अब बेनी बाबू घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे, जहाँ स्त्रियाँ छत कूट रही थीं। उन्होंने एकाएक जो हैटधारी हम लोगों को देखा, तो उनका गाना बन्द हो गया। तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहाँ न आते। और कुछ नहीं, तो संगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता। और वह संगीत भी कैसा ?—एक दम असाधारण। उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती। जैसी नन्हीं वैसी ही भोली —

"निंदिया लागी—मैं सोय गईं गुइयाँ !"

बेनी बाबू ने खड़े-खड़े इधर उधर देखा और कहा—देखो इधर, इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की आवाज का सिलसिला बिगड़ जाय। मुगरी की आवाज, सारी-की-सारी एक बारगी, एक साथ, होनी चाहिए। और देखो, आज इस छत की पिटाई का काम खतम हो जाना चाहिए।

रामलखन बोला—सरकार, आज कैसे पूरा होगा ? दिन ही कितना रह गया है।

'बको मत रामलखन ! काम नहीं पूरा होगा, तो पैसा भी पूरा नहीं होगा। समझते हो न। काम का ही दूसरा नाम पैसा है।'

रामलखन चुप रह गया।

बेनी बाबू भी चल दिये। लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की आवाज, उसकी धमक, उसकी गति और चूड़ियों की खनक और 'निंदिया लागी' का स्वर अतिशय गम्भीर हो गया। मैंने बेनी बाबू से कहा—आप काम लेना खूब जानते हैं।

वे हँसते-हँसते बोले—मैं जानता बहुत-कुछ हूँ छोटे-भैया, लेकिन जानना ही काफी नहीं होता। ज्ञान से भी बढ़ कर जो वस्तु है, उसको भी तो जानना होता है। और उसे मैं अभी तक जान नहीं सका।

मैंने पूछ दिया—वह क्या ?

वे बोले—सत्य का ग्रहण।

मैंने कहा—सिर्फ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए।

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ओर, कुर्सियाँ डलवा कर,

बैठ गये और बोले—ये स्त्रियां, जो यहां मजदूरी करने आई हैं, कितने सवेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेंगी ! कोई घर में अपने बच्चे को छोड़ आई हैं, किसी का पति खेत में काम करने गया होगा। किसी के कोई होगा ही नहीं। और काम करते-करते इनको अगर उनकी सुधि आ ही जाती है और हमारी इस सामाजिक व्यवस्था को सहन नहीं है। और तारीफ यह है कि हम समझ लेते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं। हम यही देख कर संतोष कर लेते हैं कि जो स्त्री यहां पर मजदूरी कर रही है, हमको सिर्फ उसी से मतलब है, उसी की मजदूरी हम दे रहे हैं; किन्तु हम यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझते कि वह स्त्री अपने जगत् लेकर क्या है। जो बच्चा उसने उत्पन्न किया है, वह भी तो अपने पालन-पोषण का भार अपनी माँ पर रखता है; पर हम लोग वहाँ तक सोचना ही नहीं चाहते। हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है।

बेनी बाबू चुप हो गये।एक ओर खुले अम्बर में,विहंगावलियाँ अपने पंखों को फैलाये, नितान्त निर्बन्ध, हँसी-खुशी के साथ, उड़ी चली जा रही थीं। एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे। किन्तु बराबर उधर देखने के बदले मैंने एक बार फिर बेनी बाबू को ही देखा। उनके मस्तक के ऊपर चँदोवा खुल आया था। उसमें नन्हें-नन्हें एक-आध बाल ही अवशिष्ट थे। वे अब सांध्य लोक में चमक रहे थे। उनकी खुली आँखें यद्यपि चश्मे के भीतर थीं, तो भी मुझे प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गई हैं। इसी क्षण वे बोले—अब यह काम और आगे न करूँगा। लेकिन...।

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया। जान पड़ा, वे कोई निश्चय कर रहे हैं और रुक जाते हैं। रुक इसलिए नहीं जाते कि रुकना चाहते हैं। रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।

तभी वे फिर बोले—तुम उस बात को अभी समझ नहीं सकोगे, लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता कुन्द है। देखता हूँ, तुम विचारशील हो। और तभी मैं कहना भी चाहता हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासों को लेकर खड़ा है, लेकिन जो आदमी अपने विश्वासों को

लेकर भी नहीं खड़ा होता, वह भी क्या आदमी है ? वह आदमी नहीं है। वह पशु है—पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी अपने विश्वासों के विरुद्ध खड़ा हो सकने वाला प्राणी है। वह तो . . . वह तो, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है। और वह मनुष्य ? छिः इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है !

मैंने देखा, यह वातावरण तो अब अतिशय गम्भीर हो गया है ! और उन दिनों इस तरह की निरी गम्भीरता मुझे जरा कम पसन्द आती थी; बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मजाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। बात यह थी कि उस समय एक दूसरा दृष्टिकोण हम लोगों के सामने रहता था। हम सब यही मानते थे कि जीवन तो कए हँसी-खेल की चीज है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े-से दिनों को रोना रोने, या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन-सी महत्ता है ?

इसीलिए मैंने कह दिया—इन लोगों के गाने में बीच का यह—हाँ यह स्वर मुझे बड़ा कोमल लगता है।

निमेषमात्र में, सम्यक् बदल कर—

जाओ नजदीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर गाना बन्द कर दें, तो कहना—काम में हर्ज नहीं होना चाहिए; क्योंकि गाने के साथ छत कूटने का काम अधिक अच्छा होता है, ऐसा मैं सुनता आया हूँ।—बेनी बाबू ने मुस्कराते हुए कहा।

मैं चला गया। चुपचाप बहुत धीरे-धीरे, पैर सम्हाल-सम्हाल कर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता जरूर जान पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा—तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द कर दिया ?

खिलखिल के कुछ मंदिर कलहास। कभी इधर—कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा, उसे जरा-सा धक्का देकर—गा री पत्ती, चुप क्यों हो गई ?

'तू ही क्यों नहीं गाती ? छोटे-भैय्या के साम्ने . . .'।

'हूँ, बड़ी लाजवन्ती बनी है! जैसे दुलहे का मुँह ही न देखा हो!

मैंने कहना चाहा—लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ। लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया। चला तो आया; किन्तु उस खिलखिल और अपने सामने गाने से लजानेवाली उस पत्ती को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कैसे उल्लासके साथ आया था; किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया।

बेनी बाबू ने बड़े प्यार से पूछा—कह जाओ।

मैंने कहा—क्या कह जाऊँ? वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।

'फिर तुमने वह बात नहीं कही।'

'उसे मैं कह नहीं सका।'

'तो यह कहो कि तुम खुद ही लजा गये!'

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं कि, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी कैसे की जाती है, वह चीज क्या है, यदि वह कभी उसके दलदल में पड़ जायगा, तो उससे सफाई के साथ निकल ही कैसे सकेगा? वह तो निश्चय-पूर्वक फँस जायगा। वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि बेनी बाबू मुझे ऐसी जगह ले जायँगे, जहाँ पहुँच कर फिर मुक्ति का कोई मार्ग ही दृष्टिगत न होगा?

बेनी बाबू बोले—अच्छा, एक काम कर आओ। रामलखन से कहना अगर आज यह काम किसी तरह पूरा होता न दीख पड़े, तो कल ही पूरा कर डालना ठीक होगा। बेनी बाबू से मैंने कह दिया है कि मजदूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया—यह आदमी है कि देवता।

मुझे अवाक् देख कर उन्होंने पूछा—सोचते क्या हो?

मैंने कहा—कुछ नहीं। इतने दिन से आपका परिचय प्राप्त है; किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आपको इतने निकट से देख पाता।

वे बोले—यह सब कोई चीज नहीं है छोटे-भैया ! न्याय और सत्य से हम कितने दूर रहते हैं, शायद हम खुद नहीं जानते . . . अच्छा जाओ, जो काम तुम्हें दिया गया है, उसको पूरा तो कर आओ।

मैं फिर उसी छत पर जा पहुँचा; पर अबकी बार मैंने देखा, गान चल रहा है। लेकिन एक ही गाना तो दिन-भर चल नहीं सकता। तो भी मुझे उसी गाने को सुनने की इच्छा हो आई। साथ ही मैंने यह भी सोच लिया कि अभी कुछ समय पहले बेनी बाबू ने कहा था, मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं है।

मैंने जो रामलखन को बुलाया, तो वह सिटपिटा गया। बोला—छोटे सरकार, क्या हुक्म है ?

मैंने कहा—बेनी बाबू क्या तुम लोगों के साथ कुछ ज्यादा सख्ती से काम लेते हैं ?

वह चुप ही बना रहा, सत्य-कृष्ण कुछ भी नहीं कह सका। तब मैंने समझ लिया, डर के कारण वह उनके विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहता, इसीलिए चुप है; लेकिन जब मैंने कहा—मैं उनसे कुछ कहूँगा नहीं। मैं तो सिर्फ असल बात जानना चाहता हूँ। बिलकुल निडर होकर बतलाओ।

तब उसने कहा—काम सख्ती से लेते हैं, तो मजदूरी भी तो दो पैसा ज्यादा और वक्त पर देते हैं। ऐसे मालिक मिलें, तो मैं जिन्दगी-भर उनकी गुलामी करूँ।

मैंने कहा—तुम ठीक कहते हो। उन्होंने मुझसे कहला भेजा है कि अगर काम आज नहीं पूरा होता है, तो कल ही पूरा कर डालना। ज्यादा तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं है।

रामलखन बोला—पर छोटे भैया, उन्होंने पहले ही बहुत सोच-समझ कर हुक्म दिया था। काम अगर आज पूरा न होता, तो कूटने के लिए चूना कल हम लोगों को इस हालत में न मिलता। वह सूख जाता। तब उस पर कुटाई ठीक तरह से कैसे होती ? इसके सिवा कल गुड़ियों का त्योहार है—छुट्टी का दिन है। मैंने पीछे जो सोचा, तो मुझे इन बातों का ख्याल

आ गया। काम पूरा हो जायगा। बहुत-कुछ तो हो भी गया है। थोड़ा-सा ही बाकी रह गया है। वह भी शाम होते-होते पूरा हो जायगा तकलीफ तो थोड़ी हुई—किसी-किसी के हाथों में छाले पड़ गये; लेकिन यह बात आप उनसे जाकर न कहें सरकार, इतनी बात मेरी भी रख लें।

रामलखन की बात मानकर सचमुच मैंने बेनी बाबू से यह नहीं कहा कि कुछ स्त्रियों के हाथों में छाले पड़ गये हैं।

किन्तु उसी दिन, सायंकाल।

एक ओर जीने की दीवार गिर गई। छुट्टी हो गई थी। मजदूर लोग इधर-उधर से आ-आकर जाने लगे थे कि अररर धम् का भीषण स्वर और एक क्षीण 'आह!'

लोग दौड़ पडे। लोग गिने भी गये। सब मिलाकर उन्तीस आदमी आज काम पर थे; लेकिन हैं केवल सत्ताइस!

—तो दो आदमी दब गये, क्या?

—हाँ, यह हलका स्वर जो आ रहा है! यह!—यह!

ईंटे उठाई जाने लगीं, तो एक स्त्री ने कहा—हाय! पत्ती है—पत्ती। तभी में सोच रही थी—वह दीख नहीं पड़ती, शायद आगे निकल गई! हाय यह तो चल बसी!

उससे कौन कहता कि हाँ,वह आगे निकल गई!

लेकिन एक क्षीण स्वर तब भी ध्वनित होता रहा!

—अरे और उठाओ ईंटों को। हाँ, इस खंजड़ को। अभी एक आदमी और भी तो है।

एक साथ कई आदमयों ने मिलकर एक दीवार के टुकड़े को उठाया। वह ईंटों के ऊपर गिरा था और बीच में थोड़ी जगह शेष रह गयी थी। उसी में मुड़ा हुआ अचेत मिला गिरिधर!

कुछ दिनों में गिरिधर अच्छा हो गया। उसकी एक रीढ़ टूट गई थी; लेकिन उसका जीवन उसकी रीढ़ से अधिक बलिष्ट जो था।

उस बँगले को, फिर आगे, बेनी बाबू नहीं बनवा सके। कुछ दिनों तक काम बन्द रहा और वे बीमार पड़ गये।

मनुष्य का यह जीवन क्या इतना अस्थिर है! क्या वह फूल के दल से भी अधिक मृदुल है? क्या वह छुई-मुई है? उन दिनों में यही सोचता रहा था। वे बीमार थे, और उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मैं देख रहा था, शायद बेनी बाबू तैयारी कर रहे हैं! लेकिन एक दिन मैंने उन्हें दूसरे रूप में देखा। मैंने देखा कि मृत्यु को उन्होंने मसल डाला है, पीस डाला है! वह छटपटा रही है! वह भाग जाना चाहती है!

वे एक पलंग पर लेटे हुए थे, बहुत धीरे धीरे बातें कर रहे थे। उनके पास एक नौजवान बैठा हुआ था। वह मौन था, और बेनी बाबू उससे कुछ पूछ रहे थे। उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए, तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आँखों पर चश्मा नहीं था; अब उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया।

संकेत पाकर मैं उनके पास ही कुरसी डालकर बैठ गया था।

वे बोले—सुनते हो मुल्लू, मैं तुमको रोने नहीं दूंगा। रोने दूं, तो मैं अपने को खो दूंगा। लेकिन मैं इतना सस्ता नहीं हूँ। मैं मरना नहीं चाहता, इसीलिए मैं तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बतलाओ, तुम किस तरह से प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ कर दूं? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो, तुम कितने रुपये पाकर खुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि वे रुपये तुम्हारी स्त्री की कीमती हैं! एक स्त्री—एक नवयुवती, एक सुन्दरी—को, क्या रुपयों से तोला जा सकता है? छिः यह तो एक मूर्खता की बात है—जंगलीपन की। लेकिन मैंने अभी तुमको बतलाया न, मैं तुमको खुश करना चाहता हूँ।

—ओह 'एक नवयुवती—एक सुन्दरी!'

—तो क्या पत्नी सुन्दर थी?

—तो उसका कंठ ही कोमल न था, वरन्...

बेनी बाबू बोले—मैं जानता हूँ, तुम कुछ कहोगे नहीं। अच्छा, तो मैं

ही कह देता हूँ—उसके बच्चे की परवरिश के लिए, दस रुपये हर महीने मुझसे बराबर ले जाया करना! समझे! यह...लो दस रुपये! आज पहली तारीख है। हर महीने की पहली तारीख को ले जाया करना।

जेब से नोट निकाल कर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। मुल्लू तब कितना खुश था इसको मैंने जाना। किन्तु बेनी बाबू ने जितना-कुछ जाना, उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया, तो बेनी बाबू बोले—मेरा खयाल है, अब यह खुश रहेगा। क्यों? तुम क्या सोचते हो?

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत भी था, तो भी मैंने कह दिया—आपने यह क्या किया?

'ओह तुम मुझसे पूछते हो, छोटे भैया!—यह क्या किया! यह मैंने अपने को भुलाने के लिये किया है; क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावे में रखने का अभ्यासी है! मैंने देखा—मैं एक भूल कर रहा हूँ!—मैं मृत्यु को बुला रहा हूँ। तब मैंने सोचा—मैं ऐसी भूल नहीं करूँगा, जिसमें अपने आपको भी मैं भुला सकूं! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमको अपने-आपको भुलाना पड़ता है। यह मेरा ऐसा ही क्षण है। लेकिन यह मेरी भूल नहीं है। यह तो मेरा नवजीवन है—जागरण।'

× × ×

यह कथा तो यहीं समाप्त हो गई है। किन्तु इस कथा के प्राण में जो अन्तर्कथा है, उसी की बात कहता हूँ। उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं। यह बँगला अब मुझे रहने के लिए दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के महत् ज्ञान से आवृत मैं—लोग कहते हैं—प्रोफेसर हूँ। जीवन और जगत् का तत्वदर्शी। लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ?—अपना अन्तर खोलकर किसको दिखलाऊँ? बच्चे सुनें तो हँसे—बीबी सुने तो कहे—पागल हो गये हो!

कभी-कभी रात के घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं कुछ अस्पष्ट ध्वनियाँ सुनने लगता हूँ। कोई खिल-खिल हँस रही है। कोई धक्का देकर

कह रही है—गा री पत्ती ! और चूरियाँ खनक उठती हैं, छत कूटने लगती हैं और एक कोमल—अत्यन्त कोमल गायन स्वर फूट पड़ता है—निदिया लागी।

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं वे वहाँ से उठकर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं।

अपना-अपना भाग्य

[जैनेन्द्रकुमार]

वहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुई के रेशे से, भाप-से बादल हमारे सिरों को छू-छूकर बेरोक घूम रहे थे। हल्के प्रकाश और अँधियारी से रँगकर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और फिर देर में अरुण पड जाते, वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अँगरेजी का एक प्रमोद-गृह था, जहाँ सुहावना, रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ अपने सफेद पाल उड़ाती हुई एक दो अँगरेज यात्रियों को लेकर,इधर-से-उधर और उधर-से-इधर खेल रही थीं। कहीं कुछ अँगरेज़ एक-एक देवी सामने प्रति-स्थापित कर, अपनी सुई सी शक्ल की डोंगियों को, मानों शर्त बाँधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बंसी डाले, सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछलीचिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हाकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानो खतमकर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का खयाल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरल प्रवाह आ रहा था ः रहा था। उसका न ओर था, न छोर। यह प्रवाह कहां जा रहा था, अं से आ रहा था, कौन वता सकता है ? उस उम्र के, सब तरह के लोग उसमें थे। मानो मनुष्यता के नमूनों का बाजार सजकर सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अँगरेज उसमें थे और चिथड़ों से सजे घोड़ों की बाग थामे, वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचल कर शून्य वना लिया है और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अँगरेज-बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़ें, पिता की उँगली पकड़कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँगरेज पिता थे, जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी को अपने चारों तरफ लपेटे धन सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुएचल रहे थे।

अँगरेज-रमणियाँ थीं; जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में मौज आती थी। कसरत के नाम पर घोड़े पर भी बैठ सकती थीं, और घोड़े के साथ-ही-साथ , जरा जी होते ही, किसी-किसी हिन्दुस्तानी पर कोड़े भी फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में निःशंक, निरापद इस प्रवाह में मानो अपने स्थान को जानती हुई, सड़क पर से चलती जा रही थीं।

उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मी; सड़क के विलकुल किनारे, दामन वचाती और सम्हालती हुई, साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमटकर, लोक-लाज-स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपा कर सहमी-सहमी धरती में आँख गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थीं ।

इसके साथ ही भारतीयता का एक और नमूना था। अपने कालेपन को खुरच-खुरचकर वहा देने की इच्छा करनेवाले अँगरेजी-दाँ पुरुषोपम भी थे,

जो नेटिवों को देखकर मुँह फेर लेते थे और अँगरेज को देखकर आँखें बिछा देते थे और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वह अकड़कर चलते थे—मानो भारत-भूमि को इसी अकड़ के साथ कुचल-कुचलकर चलने का उन्हें अधिकार मिला है।

(२)

घण्टे-के-घण्टे सरक गये। अन्धकार गाढ़ा हो गया। बादल सफेद होकर जम गये। मनुष्यों का वह तांता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं-के-वहीं बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवर-कोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लाल बर्फ की चादर की तरह बिलकुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब ओर सन्नाटा था। तल्लीताल की बिजली की रोशनियाँ दीप-मालिका-सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी और दर्पण का काँपता हुआ, लहरें लेता हुआ, वह जल प्रतिबिम्बों को सौ गुना, हजार गुना करके, उनके प्रकाश को मानो एकत्र और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर सबको ढँक दिया। रोशनियाँ मानो मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत-से पहाड़ भी इस सफेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानो यह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इसी घनी गहरी सफेदी में दब गया। एक शुभ्र महासागर में फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर-नीचे चारों तरफ, वह निर्भेद्य, सफेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी नहीं देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिलकुल निर्जन-चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में जा छिपा था।

उस वृहदाकार शुभ्र शून्य में, कहीं से, ग्यारह वार टन्-टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर कब्र में से आवाज आ रही हो।

हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिये।

(३)

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला। दोनों वकील-मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे-किनारे हम चलें जा रहे थे। हमार ओवर-कोट तर हो गये थे। वारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहां ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में वारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोट पर एक कम्वल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिलकुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर इन भींगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम विस्तर में छिपकर सो रहना चाहता था; पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी, कब थमेगी—इसका पता न था। और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अन्दाज न था। उन्होंने कहा—आओ, जरा यहाँ बैठें।

हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक वजे तालाब के किनारे उस भींगी बर्फ-सी ठंडी हो रही लोहे की बेंच पर बैठ गये।

५-१०-१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिसियाकर कहा—

"चलिए भी।"

"अरे जरा बैठो भी।"

हाथ पकड़कर जरा बैठने के लिए अब इस जोर से बैठा लिया गया तो और चारा न रहा—लाचार बैठे रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह जरा बैठना जरा न था, वहुत था।

चुपचाप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

"देखो... वह क्या है?"

मैंने देखा—कुहरे की सफेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली-सी मूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—"होगा कोई।"

तीन गज की दूरी से देख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली-सी कमीज लटकाये है। पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे हैं, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है? उसके कदमों में जसे कोई न अगला है, न पिछला है; न दायाँ है, न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटेन के छोटे-से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है, पर मैल से काला पड़ गया है। आँखें अच्छी बड़ी, पर रूखी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचे की धरती, न ऊपर, चारों तरफ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाकी दुनिया। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज दी—'ए!"

उसने जैसे जागकर देखा और पास आ गया।

"तू कहाँ जा रहा है रे?"

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

"दुनिया सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है?"

बालक मौन मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर, खड़ा रहा।

"कहाँ सोयेगा?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहाँ सोया था?"

"दूकान पर।"

"आज वहाँ क्यों नहीं?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी?"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना।"

"फिर नौकरी करेगा।"

"हाँ।"

"बाहर चलेगा?"

"हाँ।"

"आज क्या खाना खाया?"

"कुछ नहीं।"

"अब खाना मिलेगा?"

"नहीं मिलेगा।"

"यों ही सो जायगा?"

"हाँ।"

"कहाँ?"

"यहीं, कहीं।"

"इन्हीं कपड़ों से?"

बालक फिर आँखों से बोलकर मूक खड़ा रहा। आँखें मानो बोलती थीं— "यह भी कैसा मूक प्रश्न।"

'माँ-बाप हैं?"

"हैं।"

"१५ कोस दूर गाँव में।"

"तू भाग आया?"

"हाँ।"

"क्यों?"

"मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं—सो भाग आया, वहाँ काम नहीं, रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था, और मारता था। माँ भूखी रहती थी, और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था उसी गाँव का। मुझसे बड़ा था। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।"

"कहाँ गया?"

"मर गया।"

"मर गया ?"

"हाँ, साहब ने मारा, मर गया !"

"अच्छा, हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील-दोस्तों के होटल में पहुँचे।

"वकील साहब !"

वकील लोग, होटल के ऊपर के कमरे से उतरकर आये। काश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोचे चढ़े पैरों में चप्पल थीं। स्वर में हल्की-सी झुंझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

"आ-हा फिर आप ! —कहिए।"

"आपको नौकर की जरूरत थी न ?—देखिए, यह लड़का है।"

"कहाँ से ले आये ?—इसे आप जानते हैं ?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चे में गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से—लो जी, यह नौकर लो।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी......जी, बस खूब हैं। एरे-गैर को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय।"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ ?"

"मानें क्या खाक ?—आप भी...जी अच्छा मजाक करते हैं।... अच्छा अब हम सोने जाते हैं।"

और वह चार रुपये रोज के किरायेवाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये।

(४)

वकील साहब के चले जाने पर होटल के बाहर आकर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराश भाव से हाथ बाहर कर मेरी ओर देखने लगे।

"क्या है ?"

"इसे खाने के लिए कुछ—देना चाहता था", अँगरेजी में मित्र ने कहा—"मगर, दस-दस के नोट हैं।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं, देखूँ ?"

सचमुच मेरे पाकिट में भी नोट ही थे। हम फिर अँगरेजी में बोलने लगे। लड़के के दांत बीच-बीच में कटकटा उठते थे। कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा—"तब ?"

मैंने कहा—"दस का नोट ही दे दो।" सकपकाकर मित्र मेरा मुंह देखने लगे—"अरे यार! बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है पास में उतने पैसे तो हैं हीं नहीं।"

"तो जाने दो, यह दया ही इस जमाने में बहुत है।"—मैंने कहा।

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—"अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल डि पब' जानता है। वहीं कल १० बजे मिलेगा ?"

"हाँ......कुछ काम देंगे, हजूर!"

"हाँ-हाँ, ढूंढ़ दूंगा।"

"तो जाऊँ ?"

"हाँ", ठंडी साँस खींचकर मित्र ने कहा—"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं; बेंच पर, पेड़ के नीचे किसी दूकान की भट्ठी में।"

बालक फिर उसी प्रेत-गति से एक ओर बढ़ा। और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पार कर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा—"भयानक शीत है। उसके पास! कम—बहुत कम कपड़े......!"

"यह संसार है यार!"—मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई—"चलो पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।"

उदास होकर मित्र ने कहा—"स्वार्थ!—जो कहो लाचारी कहो, निठुराई कहो, या बेहयाई!"

× × ×

दूसरे दिन नैनीताल—स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलारे का बेटा—वह बालक निश्चित समय पर हमारे 'होटल डि पब' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताल सैर खुशी-खुशी खतमकर चलने को हुए। उस लड़के की आस लगाये बैठे रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला कि पिछली रात, एक पहाड़ी बालक सड़क के किनारे पेड़ के नीचे, ठिठुरकर मर गया।

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज मिली। आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बताने वालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठी और पैरों पर, बरफ की हलकी-सी चादर चिपक गई थी। मानो दुनिया की बेहयाई ढकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठण्डे कफन का प्रबन्ध कर दिया था!

सब सुना और सोचा—अपना अपना भाग्य!

दुःख का अधिकार

[यशपाल]

पोशाक मनुष्य को विभिन्न श्रेणियों में बांटने वाली सीमा है। पोशाक ही समाज में मनुष्य का अधिकार और उसका दर्जा निश्चित करती है। वह हमारे लिये अनेक बंद दरवाजे खोल देती है। परन्तु कभी ऐसी भी परिस्थिति आ जाती है, जब हम नीचे झुककर मनुष्य की निचली श्रेणियों की अनुभूति को समझना चाहते हैं; उस समय यह पोशाक ही बन्धन और पैर की बेड़ी बन जाती है। जैसे वायु की लहरें कटी हुई पतंग को सहसा भूमि पर नहीं गिर जाने देती; उसी प्रकार हमारी पोशाक, खास परिस्थितियों में हमें झुकने से रोके रहती है।

बाजार में फुटपाथ पर कुछ खरबूजे डलिया में और कुछ जमीन पर फैलाये एक अधेड़ उमर की औरत बैठी रो रही थी। खरबूजे बिक्री के लिये थे; परन्तु उन्हें खरीदने के लिए कोई कैसे आगे बढ़ता, जब उन्हें बेचने वाली कपड़े से मुंह छिपाये सिर को घुटनों पर रक्खे फफक-फफककर रो रही थी!

आस-पास की दुकानों के पटड़ों पर बैठे—या नीचे खड़े आदमी घृणा से उसी के सम्बन्ध में जिकर कर रहे थे। उसका रोना देख मनमें एक व्यथा-सी उठी, पर उसके रोने का कारण जानने का उपाय?

यह पोशाक भी व्यवधान बन कर खड़ी हो गयी। घृणा से एक तरफ थूकते हुए एक आदमी ने कहा—"क्या जमाना है! जवान लड़के को मरे एक दिन नहीं बीता और यह बेहया दुकान लगा के बैठी है।" अपनी दाढ़ी खुजलाते हुए दूसरे साहब कह रहे थे—"अरे, जैसी नियत होती है, वैसी ही अल्हा बरकत भी देता है!"

एक तरफ कुछ दूर खड़े हुए एक आदमी ने दियासलाई से कान खुजलाते हुए कहा—"अरे, इन लोगों का क्या ? यह कमीने लोग टुकड़ों पर जान देते हैं। इनके लिये बेटा-बेटी खसम-लुगाई, धर्म-ईमान, सब रोटी का टुकड़ा है !"

परचून की दुकान पर बैठे लाला जी ने कहा—"अरे भाई, उनके लिये मरे-जिये का कोई मतलब न हो, पर दूसर के धर्म का तो ख्याल करना चाहिये ! जवान बेटे के मरने का तेरह दिन का सूतक होता है और यह यहाँ सड़क पर बाजार में आ खरबूजे बेचने बैठी है ! हजार आदमी आते हैं, जाते हैं। कोई क्या जानता है कि इसके घर में सूतक है ! कोई इसके खरबूजे खा ले, तो उसका इमान-धर्म क्या रहेगा ! क्या अंधेर है।"

× × ×

पास-पड़ोस में पूछने पर जान पड़ा—उसका तेइस बरस का जवान लड़का था। उसकी एक बहू है और एक पोता-पोती। शहर के पास डेढ़ बीघा भर जमीन में कछियारी कर के वह अपना निर्वाह करता था। खरबूजों की डलिया बाजार में पहुँचाकर कभी लड़का सौदे के पास बैठता, कभी माँ ! परसों के रोज सुबह मुंह अंधेरे लड़का बेलों में से पके खरबूजे चुन रहा था। गीली मेड़ की तरावट में विश्राम करते हुए साँप पर पैर पड़ने से साँप ने लड़के को काट खाया।

माँ बावली होकर ओझा बुला लाई। झाड़ना-फूंकना हुआ। नागदेव की पूजा हुई। पूजा में दान-दक्षिणा चाहिए, घर में जो कुछ आटा और अनाज था, दान-दक्षिणा में उठ गया। माँ, बहू और पोते "भगवाना" से लिपट-लिपट कर रोये। पर भगवाना जो एक दफे चुप हुआ तो फिर न बोला। सर्प के विष से उसका सब बदन काला पड़ गया था।

जिंदा आदमी नंगा भी रह सकता है, परन्तु मुर्दे को नंगा कैसे विदा किया जाय। उसके लिए तो बजाज की दुकान से नया कपड़ा लाना ही होगा। चाहे उसके लिये माँ के छन्नी-ककना ही क्यों न गिरवी रखने पड़ें।

× × ×

भगवाना चला गया और घर में जो कुछ चूनी-भूसी थी, सो उसे विदा करने में चली गयी। बाप नहीं रहा तो क्या। लड़के सुबह उठते ही भूख से बिलबिलाने लगे। दादी ने उन्हें खाने को खरबूजे दिये, लेकिन बहू को क्या दे? उसका बदन बुखार से तवे की तरह तप रहा था, आज बेटे के बिना उसे दुअन्नी-चवन्नी कौन उधार देगा।

रोते-रोते आँखें पोंछते बुढ़िया भगवाना के बटोरे हुए खरबूजे डलिया में समेटकर बाजार को चली। और चारा ही क्या था।

× × ×

वह आई थी खरबूजे बेचने का साहस कर, परन्तु चादर से सिर लपेटे सिर को घुटनों पर टिकाये, फफक-फफककर रो रही थी।

"कल जिसका बेटा चल बसा, आज वह बाजार में सौदा बेचने चली है। हाय रे पत्थर का दिल।" उसके दुःख का अन्दाजा लगाने के लिए पिछले साल अपने पड़ोस में पुत्र की मृत्यु से दुखी माता की बात सोचने लगी... जो पुत्र की मृत्यु के बाद पन्द्रह दिन तक पलँग से उठ नहीं सकी थी। पन्द्रह-पन्द्रह मिनट बाद जिसे पुत्र-वियोग से मूर्च्छा आ जाती थी और मूर्च्छा न आने की अवस्था में आँखों से आँसू न रुकते थे। दो-दो डाक्टर हरदम सिरहाने बैठे रहते थे। हरदम सिर पर बरफ रक्खी जाती।... शहर भर के लोगों के मन उस पुत्र-शोक से द्रवित हो उठे थे।

जब मन को सूझ का रास्ता नहीं मिलता, तो बेचैनी से कदम तेज हो जाते हैं। उसी हालत में नाक ऊपर उठाये, राह चलतों से ठोकर खाता, मैं चला जा रहा था यह सोचता हुआ—"शोक करने के लिये, गम मनाने के लिए भी सहूलियत चाहिए और दुःखी होने का भी एक अधिकार होता है........।"

शान्ति हँसी था

[अज्ञेय]

"जानकीदास मुजरिम, तुम पर जुर्म लगाया जाता है कि तुमने तारीख १४ दिसम्बर को शाम के आठ बजे हालीउड पार्क के दरवाजे पर दंगा किया, और कि तुम्हारी रोजी का कोई जरिया नहीं है। बोलो, तुम्हें जवाब में कुछ कहना है?"

जवाब के बदले जानकीदास को टुकर-टुकर अपनी ओर देखता पाकर न जाने क्यों मजिस्ट्रेट—हाँ, मजिस्ट्रेट—पसीज उठे। उन्होंने कहा—"जो कुछ तुम्हें जवाब में कहना हो सोच लो। मैं तुम्हें पाँच मिनट की मोहलत देता हूँ।"

× × ×

पाँच मिनट।

जानकीदास के वज्राहत मन को, मानो कोड़े की चोट-सा, मानो बिच्छू के डंक-सा यह एक फिकरा काटने लगा, बताने की वह फिजूल कोशिश करने लगा—पाँच मिनट!"

पाँच मिनट—

जैसे नदी के किनारे पर पड़ा हुआ कछुआ, पास कहीं खटका सुनकर, तनिक-सा हिल जाता है और फिर वैसा ही रह जाता है लोंदा-का-लोंदा, वैसे ही जानकीदास के मन ने कहा—"शान्ति हँसी थी" और रह गया।

पाँच मिनट—

कुछ कहना है अवश्य, सफाई देनी है अवश्य . . .

पाँच मिनट....

शान्ति हंसी...

कब? कहाँ? क्यों हंसी थी? और कौन है वह, क्यों है, मुझे क्या है उससे?...

पाँच मिनट...

उसे धीरे-धीरे याद-सा आने लगा; किन्तु याद की तरह नहीं। बुखार के बुरे सपनों की तरह!

× × ×

शान्ति ने रोटी उसके हाथ में थमाकर उसी में भाजी डालते-डालते कहा था—"इस वक्त तो खा लेते हैं, उस जून मेरी एकादशी है।"

उसने पूछा था—"क्यों?"

"क्यों क्या? तुम्हें खिला दूँगी—" और हंस दी थी।

उस जून के लिए रोटी नहीं है, यह कहने के लिए हंस दी थी।

दोपहर में, सड़कों पर फिरता हुआ जानकीदास सोच रहा था, इतनी बड़ी दुनियाँ में, इतने कामों से भरी हुई दुनियाँ में, क्या मेरे लिये कोई भी काम नहीं है? वह पढ़ा-लिखा था, अपने माँ-बाप से अधिक पढ़ा-लिखा था, पर उन्हें मरते समय तक कभी कष्ट नहीं हुआ था। चाहे धनी वे नहीं हुए, तब वह क्यों भूखा मरेगा? और शान्ति, उसकी बहिन, भी हिन्दी पढ़ी है और काम कर सकती है।

जहाँ-जहाँ से उसे आशा थी, वहाँ सब वह देख चुका था। बल्कि जहां आशा नहीं थी, वहाँ भी देख-देखकर वह लौट चुका था।

अब उसे कहीं और जाने को नहीं था—सिवाय घर के, और वहाँ उस जून के लिए रोटी नहीं थी और यह बताने को शान्ति हंसी थी।—हंसी थी...

तब तक, भले ही उसके मन में सम्पन्नता का, पढ़ाई का, दरजे का, इज्जत-आबरू का, बुर्जुआ मनोवृत्ति का, कुछ अभिमान, कुछ निशान बाकी रहा हो अब नहीं रहा। उसके लिए कुछ नहीं रहा था। केवल

एक बात रही थी कि उस जून के लिए रोटी नहीं है और शान्ति हंसी थी।

राह चलते उसने देखा, दायें ओर एक बड़ा-सा आँगन है, एक भव्य मकान का, जिसमें तीन-चार सुन्दर बच्चे खेल रहे हैं। एक ओर एक लड़की, बिना आग के एक छोटे से चूल्हे पर, लकड़ी की हंडिया चढ़ाये रसोई पका रही है और खेलने वाले लड़के से कह रही है "आओ भइया, रोटी तैयार है।"

वह एकाएक आँगन के भीतर हो लिया। लड़के सहम कर खड़े हो गये—शायद उसका मुँह देखकर।

उसने एक लड़के से कहा—"बेटा जाकर अपने पिता से पूछ दो, यहां कोई पढ़ाने का काम है?"

लड़के ने कहा, "हम नहीं जाते, आपही पूछ लो।"

जानकीदास ने दूसरे से कहा—"तुम पूछ दोगे? बड़े अच्छे हो तुम...।"

उस लड़के ने एक बार अपने साथी की ओर देखा, मानो पूछ रहा हो—"मैं भी ना कह दूं?", लेकिन फिर भीतर चला गया और आकर बोला—"पिताजी कहते हैं, कोई काम नहीं है।"

जानकीदास ने फिर कहा—"एक बार और पूछ आओ, कोई जिल्दसाजी का काम है? या बढ़ई का? या और कोई?"

लड़के ने कहा—"अबकी तो पूछ लेता हूँ, फिर नहीं जाने का। आकर बोला—"पिता जी कहते हैं—यहाँ से चले जाओ। कोई काम नहीं है। फिजूल सिर मत खाओ।"

जानकीदास बाहर निकल आया।

× × ×

कोई पढ़ाने का काम है? किसी क्लर्क की जरूरत है? जिल्दसाजी की? बढ़ई की? रसोइया की? भिश्ती की? टहलुये की? मोची-मेहतर की?

कोई जरूरत नहीं है। सबके अपने-अपने काम हैं, केवल जानकीदास

की कोई जरूरत नहीं है और उस जून खाने को नहीं है, और शान्ति हंसी थी।

× × ×

शाम को हालीउड पार्क के दरवाजे के पास जो भीड़ खड़ी थी, उन्हीं में यह भी था। दुनियाँ है, घर है, शान्ति है, रोटी है, यह सब वह भूल गया था। भूल नहीं गया था, याद रखने की क्षमता, मन को इकट्ठा, अपने वश में, रखने की सामर्थ्य वह खो बैठा था। न उसका कोई सोच था, न उसकी कोई इच्छा थी। वहाँ भीड़ थी, लोग खड़े थे—इसीलिए वह भी था।

भीतर असंख्य बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थीं। बड़े-बड़े झूले, रंग-बिरंगी रोशनी में, किसी स्वप्न-आकाश के तारों से लग रहे थे। कहीं एक बहुत ऊँचा खंभा था, जिसकी कुल लम्बाई नीली और लाल लैंपों से सजी हुई थी और ऊपर उसके एक तख्ता बँधा हुआ था।

उसी के बारे में बातें हो रही थीं। और जानकीदास मंत्र-मुग्ध-सा सुन रहा था।

"वह जो है न खंभा, उसी पर से आदमी कूदता है। नीचे एक जलता हुआ तालाब होता है, उसी में"

"उससे पहले दूसरा खेल भी होता है, जिसमें कुत्ता कूदता है।"

"नहीं वह बाद में है। पहले साइकिल पर से कूदनेवाला है। वह वहाँ से नहीं दीखता।"

"वह कितने बजे होगा।"

"अभी थोड़ी देर में होने वाला है—आठ बजे होता है।"

"यह आवाज क्या है?"

"अरे जो वह गुम्बद में मोटरसाइकिल चलाता है, उसी की है।"

जानकीदास का अपना कुछ नहीं था। इच्छा शक्ति भी नहीं। जो दूसरे सुनते थे, वही उसे दीख जाता था।

"वह देखो।"

झूले चलने लगे थे, चरखड़ियाँ घूमने लगी थीं; उन पर बैठे हुए लोग

नहीं दीखते थे। पर प्रकाश में कभी-कभी उनके सिर चमक जाते थे और कभी किसी लड़की की तीखी और कुछ डरी-सी हँसी वहाँ तक पहुँच जाती थी। डरी-सी किंतु प्रसन्न, आमोद-भरी . . .

जानकीदास देखता था और सुनता था और निश्चल खड़ा हुआ भी उत्तेजित हो जाता था। वही क्यों, सारी भीड़ ही धीरे-धीरे उत्तेजित होती जाती थी।

तभी अन्दर कहीं बिगुल बजा, तीखा, किसी प्रकार के सोच या चिन्ता से मुक्त पुकारता हुआ।

किसी ने कहा—"अब होगा साइकिल वाला खेल। चलो अन्दर चलें।"

"तुम नहीं चलोगे?"

"चलो।"

"मैं भी चलता हूँ यार? यह तो देखना ही चाहिए—"

"आओ न—जल्दी। फिर जगह नहीं रहेगी।"

भीड़ दरवाजे की ओर बढ़ी। उत्तेजना भी बढ़ी, फैली, फिर बढ़ी।

जानकीदास भी साथ पहुँचा, टिकटघर के दरवाजे पर।

लोग टिकट लेकर भीतर घुसने लगे। जानकीदास खड़ा देखने लगा।

तभी एक लड़का एक छोटी लड़की का हाथ पकड़े, उसे घसीटता हुआ, जल्दी से टिकटघर पर पहुँचा और टिकट लेकर, बड़े उत्तेजित, उत्तेजना से भर्राये हुए स्वर में बोला—"कमला अगर देर में पहुँचा तो याद रखना, मार डालूंगा? उमर भर में एक मौका मिला है—"

आगे जानकीदास नहीं सुन सका। लपककर टिकटघर पर जा पहुंचा। टिकट माँगी। ली। जेब में डाली। दूसरा हाथ अन्दर की जेब में डाला—पैसे निकालने के लिए—चार आने। डाला और पड़ा रहने दिया। निकाला नहीं, उत्तेजना टूट गए।

जेब में एक पैसा भी नहीं था।

× × ×

"मुजरिम तुम्हें कुछ कहना है?"

जानकीदास ने फिर एक बार दीन दृष्टि से मजिस्ट्रेट की ओर देख लिया, बोला नहीं। उसका मन कछुये की तरह तनिक और हिलकर बिलकुल जड़ हो गया।

उस जून उसने नहीं खाई थी, तो शान्ति ने खा ली होगी।

मजिस्ट्रेट साहब सेकंड भर सोचकर बोले—"एक साल।"

शान्ति हँसी थी। उस जून के लिये रोटी नहीं है, यह कहने के लिये शान्ति हँसी थी।

रामलीला

[राधाकृष्ण]

पेशा में कोई पेशा हुआ भी तो रामलीला का दल रखने का पेशा हुआ। दूकानदारी का पेशा होता, जमींदारी होती, महाजनी होती, कोई भी, कैसा भी पेशा होता, तो एक बात थी। मगर रामलीला का दल रखने का पेशा सो भी यह खानदानी पेशा है। सात पुश्तों से रामलीला का दल चला आता है। और रामरतन जरा आधुनिक बुद्धि का आदमी है, सो अपने इस पेशे को पसंद नहीं करता। मगर खानदानी चीज है। रामलीला वह छोड़ नहीं सकता, अपना दल तोड़ नहीं सकता।

मगर ये जो ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा आकर राम बनते हैं, लक्ष्मण बनते हैं, बशिष्ठ और विश्वमित्र बन जाते हैं, सो रामरतन को पसंद नहीं। यह इस प्रकार राम की पैरोडी हो जाती है, लक्ष्मण का उपहास हो जाता है, राजा दशरथ की मिट्टी पलीद होती है और महाज्ञानी बशिष्ठ के मुंह से ज्ञान के बदले अज्ञान ही ज्यादा निकलता है। सो रामरतन रामलीला के इस पुराने ढर्रे में परिवर्तन करेगा।

और, वह रामरतन पाँच दिन से परेशान है। वह कोई ऐसा बालक खोज रहा है, जो राम का पार्ट करे। ऐसा ही वह किसी साँवले-सलोने बालक की खोज में घूम रहा है। तमाम ढूंढ़ आया, लेकिन रामरतन को ऐसा बालक नहीं मिलता। जो देखने में आते हैं, वे जी को जंचते नहीं। सब में एक-दो त्रुटियाँ अवश्य आगे आ जाती हैं। वैसा मन चाहा बालक नहीं मिलता। जाने मिलेगा भी या नहीं मिलेगा।

पाँचवें दिन रामरतन निराश हो गया। जब राम ही नहीं तो रामलीला,

भी नहीं। वह थक गया; शरीर से भी, मन से भी। उसे लगा जैसे वह कूड़े के अन्दर शालिग्राम ढूंढ़ रहा है। भला कहाँ मिलेगा? उसे लगा कि इस इतनी बड़ी धरती पर वह सब से ज्यादा लाचार प्राणी है। उसकी परेशानी में कोई उसका सहारा नहीं हो सकता। भला यह रामलीला का दल क्या हुआ कि परेशानी का भण्डार हो गया। वह थककर पार्क की एक बेंच पर बैठ गया। अगर राम का काम करने वाला बालक नहीं मिला, तो फिर रामलीला कैसे होगी?

कि वह देखता है कि एक वैसा ही अबोध, वैसा ही भोला, निर्मल-निश्छल, साँवला-सलोना बालक पार्क में तितलियों के पीछे दौड़ रहा है। कौन लड़का है? किसका लड़का है? अगर यह राम का पार्ट करे, तब तो फिर कुछ कहना ही नहीं।

उसने बालक को बुलाया। अपने पास बिठाकर उससे तरह-तरह की बातें पूछने लगा। लड़के ने कहा—मेरे पिता नहीं, मेरी मा है। वह क्या करती है, सो मैं नहीं जानता। हमारे घर में तीन गाय हैं। मा उसका दूध दूहती है। एक ग्वाला आकर उसका दाम दे जाता है। हमारे एक मामा हैं, सो बड़ी दूर रहते हैं। रंगून कहाँ है; जानत हो? हमारे मामा वहीं नौकरी करते हैं। जब वे आवेंगे, तो मेरे लिये एक दोना मिठाई लावेंगे और एक रबर की गेंद लावेंगे। फिर वे मेरे लिये कोट सिला देंगे और हाफपेंट खरीद देंगे। फिर कोई तकलीफ नहीं रहेगी।

इस बालक को पाकर रामरतन ने मानो आसमान का चाँद पा लिया। राम के लायक ऐसा बालक मिलना असम्भव था। थोड़ी देर के बाद वह उस बालक की मा के सामने खड़ा था और उसकी शंकाओं का समाधान कर रहा था। उसकी मा को जो हिचक थी, सो रुपयों की आवाज सुनते ही मिट गयी।

रामरतन ने बालक से पूछा—क्यों भाई, राम का पार्ट करोगे न?

करूँगा!—बालक ने सरलता से जवाब दिया।

तीर चलाकर तब तुम ताड़का को कैसे मारोगे।

बालक ने छोटी-सी धनुही से तीर का ऐसा सरल सन्धान किया कि रामरतन खुशी से निहाल हो उठा। ऐसा बढ़िया बालक कभी नहीं मिलेगा। कहीं नहीं मिलेगा। यह बालक राम का प्रतिरूप है। राम का अभिनय इसके पास आकर सत्य और साकार हो उठा है।

और दूसरे दिन से ही रामलीला में दर्शकों की भीड़ तिगुनी-चौगुनी होने लगी। वह बालक के रूप और अभिनय को सार्थक कर रहा था।

× × ×

फिर बाईस वर्ष व्यतीत हो गये। इतने दिनों की बड़ी लम्बी अनेकानेक कहानियाँ हैं। रामरतन की रामलीला पार्टी आज भारतवर्ष में विख्यात है। पार्टी के पास धन है, सम्मान है, प्रतिष्ठा है। मगर फिर भी रामरतन को शान्ति नहीं। अब उसकी पार्टी ग्वालियर में आई है। सम्राट् ने खास तौर पर उसकी रामलीला पार्टी को निमंत्रण दिया है। लोग उत्सुक हैं। मगर रामरतन जानबूझ कर पन्द्रह दिनों से देर कर रहा है। उसके पास रावण की कमी है। जो व्यक्ति रावण का काम करता है, वह रामरतन को ही पसंद नहीं फिर उसे ग्वालियर के नरेश कैसे पसंद करेंगे? इतनी बड़ी इस पृथ्वी पर उसे एक रावण नहीं मिलता। रामरतन रावण खोज रहा है और परेशान हो रहा है। रावण की प्रतिच्छवि कहीं दीखती नहीं। उस रावण के भयानक चेहरे पर क्रोध था, हिंसा थी। उसके भारी गले से कर्कश आवाज निकली थी। हाँ, ऐसा ही रावण होना चाहिए, ऐसा ही रावण रामलीला में सजेगा, ऐसा ही रावण जगतमाता जानकी का हरण कर सकता है।

और, आखिर ऐसा ही एक व्यक्ति उसे एक शराबखाने में दिखाई दिया। उसके चेहरे पर अभिमान और क्रूरता थी। कर्कश कण्ठ से गालियों की बौछार निकल रही थी। दूकानदार से वह मुफ्त में शराब माँग रहा था; लेकिन शराब के बदले दोनों में बेशुमार गालियों का विनिमय होने लगा था। हाँ यही व्यक्ति है, जो चाहे तो रावण बनकर सचमुच सज सकता है। चेहरे पर कैसी भयानकता है, आँखों में कितना कमीनापन है। यह साधु का कपट

वेश धारण करके सीता के पास जायगा तब भी मन, वाणी और रूप की भयानकता नहीं मिटेगी। देखते ही लोग कह देंगे, यही रावण है, कपटी, बदमाश ! . . .

रामरतन आगे बढ़ गया और दूकानदार के सामने चवन्नी फेंक कर बोला भई, मेरी ओर से इन्हें पिला दो; एक बोतल !

ऐं ! रावण की प्रतिच्छविवाला व्यक्ति बोला तू तो बड़ा दयावान् है यार ! बतला, मैं तेरा क्या काम करूँ ? तू मुझसे क्या काम लेगा ?

रामरतन ने कहा—मेरी एक रामलीला पार्टी है; मैं उसमें तुम्हें रावण का पार्ट देना चाहता हूँ।

रावण ? . . . अच्छा, मैं करूँगा।

और, सचमुच उसके द्वारा रावण का काम सबसे अच्छा हुआ। रामलीला समाप्त होने के बाद रामरतन ने उससे पूछा—बोलो, आज पुरस्कार में मैं तुम्हें क्या दूं ?

रावण ने कहा—मैं आप से पहले भी बहुत कुछ पा चुका हूँ; अब आज क्या माँगूं ?

पहले ? रामरतन ने आश्चर्य से कहा—मैंने तो पहले तुम्हें कभी देखा भी नहीं।

हाँ, आप मुझे नहीं पहचान सके; लेकिन मैंने आप को पहले दिन ही पहचान लिया था। मैं वही आदमी हूँ, जो लड़कपन में आप के यहाँ राम का पार्ट किया करता था। उसके बाद मेरे मामा आकर आप से मुझे ले गये। याद कीजिये। मैं वही आदमी हूँ। एक दिन आप के यहाँ मैं राम बनता था। याद आया ?

हाँ रामरतन को अब सब याद आ गया। रावण के उस भयानक चेहरे के भीतर से रामरतन को राम की वही साँवली-सलोनी निर्मल छवि फूटती हुई-सी दिखाई पड़ी। वह आश्चर्य से चकित होकर बोल उठा—हां, तुम वही राम हो। मुझे याद आ गया। तुम वही राम हो।

सुलताना की आत्मा

[पहाड़ी]

जब हम लोग फॉरेस्ट के बँगले पर पहुँचे तो पाँच बज गए थे। मई की गरमी से वह बँगला काफी तपा था और साठ मील का सफर तय करने के बाद हम बहुत थक गये थे। हम फॉरेस्ट की अपनी निजी सड़क से आए थे, जहाँ कि शिकार खेलने की मनाही है। ड्राइवर ने बताया कि किसी जमाने में अँग्रेज अफसर वहाँ जाड़ों में शिकार खेलने के लिए आते थे, फिर राजा महाराजाओं को भी इसका शौक हुआ और अब तो लगता है कि शिकार खेलने की प्रथा बन्द हो जायगी। राह में शाल, तुन, जामुन आदि के घने जंगल थे। बाँस तथा झाड़ियाँ भी दूर-दूर तक चली गयी थीं। आसपास मीलों तक बस्ती का पता नहीं था। हिमालय का इतिहास जितना पुराना है, इस तराई का उसके समकालीन ही होगा। यह तराई का हिस्सा पंजाब को छूता हुआ विहार आसाम तक पहुँचा हुआ है। यहाँ का सही ज्ञान उन निवासियों को है, जो कि सदियों से कई पुश्तें यहाँ काट चुके हैं; जिनका काम कि अधिकारियों, राजा-महाराजाओं तथा और शौकीनों को शिकार खिलाना रहा है। वे स्वयं भी इस कला में प्रवीण हैं और जंगल की सारी विद्या जानते हैं। सब मौसमों तथा जंगल के विधान का ज्ञान उनको है।

चीतल, चीता, हिरन, सुअर, बारहसींघा, लकड़बग्घा आदि जानवरों के अलावा भाँति-भाँति की जंगली चिड़ियाएँ तथा साँप के परिवार के रेंकने वाले जन्तु भी स्वतंत्रता से यहाँ विचरा करते हैं। शिकारियों ने इन सुन्दर जंगलों में प्रवेश पाने का सदा ही निरर्थक प्रयास किया है। यहाँ के निवासी उस धरती के भीतर का ज्ञान स्वयं छुपाए हुए रखते हैं। उस भेद की बात

को और कोई नहीं जानता है। परदेशी अनुदार होता है और जंगलों को अपने स्वार्थ के लिए रौंदता है, इससे सभी परिचित हैं। राह में एक मरा चीतल, एक विशाल बड़ की पेड़ की छाया पर पड़ा था और चीलें तथा काली पंखों वाले भयानक गिद्ध चारों ओर चक्कर काट कर ऊपर झपट रहे थे। लोमड़ियाँ और जंगली कुत्ते भी अवसर पाकर बीच-बीच में उसे नोच लेते थे।

ड्राइवर ने हमें बताया था कि रात को चीते ने उस जानवर का शिकार किया होगा। तथा पेट भरने के बाद झाड़ियों में इसे छुपा गया होगा। जंगल में सब आजाद हैं। लोमड़ियों ने उसकी गंध पाकर झाड़ियों के बीच से हटा कर यहाँ डाल दिया और अब सब अपना-अपना हिस्सा बाँट रहे थे। चीते को गंध का ज्ञान नहीं होता है। वह अपनी शक्ति के बल पर शिकार करता है। और निर्बल लोमड़ियाँ गंध के ज्ञान के कारण ही तो अपना भोजन पाती हैं। जब कि हम एक सँकरे से रास्ते से गुजर रहे थे, जिसके दोनों ओर बाँस के बड़े-बड़े जंगल थे, तो हिरनों का एक गिरोह हमारी कार के आगे से चौकड़ी भरता हुआ निकल गया था। ड्राइवर ने कार धीमी न कर दी होती तो वह जरूर किसी जानवर से टकरा गयी होती। जंगली मुरगियाँ तथा और पक्षी स्वच्छन्दता से उड़ रहे थे। मानो कि वे निर्भय हों। एक बड़ा हरे से रंग का मटमैला साँप तो कार के पहिये से चिपका हुआ बड़ी दूर तक चला आया था। यह सब देखकर सोचा कि आदि मानव को कितना संघर्ष नहीं करना पड़ा होगा। आज तो वह अपनी बुद्धि पर अधिक भरोसा करके आपस ही में एक दूसरे का शोषण करना सीख गया है। शासन करने की उसकी लिप्सा बढ़ गयी है।

खानसामा ने बाहर बरामदे में कुरसियाँ डाल दी थीं और हमारे नौकर ने सामान कमरों में लगा लिया था। इस डाक बँगले में गरमियों में बहुत कम अफसर टिकते हैं। अधिकतर शिकारी व अधिकारी जाड़ों में शिकार खेलने के लिए ही आते हैं। चौकीदार ही खानसामा का काम करता है और वह साहब लोगों को रुचि के कुछ सामान भी रखता है। भंगी को भी सरकारी

वेतन मिलता है और वह मुरगियों का बाड़ा रखता है। साहब लोग इनाम दे जाया करते हैं और इनकी आर्थिक स्थिति बुरी नहीं है। ये लोग सभी मौसमों में यहाँ रहते हैं और जंगली जानवरों से कोई भय इनको नही रहता है। चौकीदार की अवस्था लगभग साठ साल की होगी। अब तो वह सब काम नहीं करता है। उसका लड़का चार साल हुए फौज से छूट कर आया है और वही सब काम करता है। अफसरों ने वादा किया है कि उसे वे शीघ्र ही पक्का कर देंगे व बूढ़े की पेशन भी चालू हो जायगी।

हवा बिलकुल बन्द-सी थी और बड़ी उमस हो रही थी। लगता था कि उस गरमी में हम पिघल जावेंगे! वह बूढ़ा ताड़ के एक पुराने पंखे से हवा करने का निरर्थक-सा प्रयास करने लगा। गरमी से परेशान होकर मैं गुसलखाने पहुँचा और गरम से पानी में नहा कर बाहर आया। बिस्कुट का एक टुकड़ा दांतों में दवा कर चबाया और चाय के दो प्याले पी गया। मेरा साथी ठेकेदारों तथा और सरकारी अधिकारियों से बातें कर रहा था। सरकार अपनी नयी योजना के अन्तर्गत यहाँ की धरती पर फौज से छूटकर आए हुए लोगों की बस्ती बसाना चाहती थी। पेड़ों को बड़ी-बड़ी मशीनों से उखाड़ कर, फिर उस धरती के हृदय को ट्रैक्टर से चीर कर उसकी कल्पना एक नई दुनियाँ बसाने की थी। यह कल्पना पाँच साल तक दिल्ली के लाल फीतों वाली फाइल से निकल कर, फिर दो साल तक लखनऊ की फाइलों से उड़कर अब यहाँ पहुँच सकी थी।

साँझ हो आयी थी और मैं बरामदे में खड़ा होकर सामने दूर तक फैले हुए विशाल जंगल की ओर देख रहा था। वह स्वस्थ और सबल जंगल में जाने क्यों मन में एक अज्ञेय-सा बल प्रदान करने लगा। गरमी अभी भी उसी भाँति पड़ रही थी और मन बेचैन-सा था। मैं अनमना-सा बाहर आ कर टहलने लगा। इस स्थान का यह मेरा पहला ही अनुभव था। अब कुछ रात सी पड़ने लगी थी। तभी मैंने पाया कि दक्षिण की ओर से एक भारी सी आवाज आयी और वह लगातार समीप-सी सुनाई पड़ रही थी। मैं चौंक-सा उठा कि क्या बात होगी और उधर बढ़ा; पर आगे धुंधले में कुछ भी साफ-

साफ नहीं दीख पड़ा। फिर वह आवाज तो जंगल की ओर से लगातार प्रतिध्वनित हो रही थी, उसका वेग कम नहीं हो रहा था। इसके पहले कि सवाल करूँ, चौकीदार ने बताया कि भौंतू चल रहा है। उस प्रदेश की वह भाषा मेरी समझ में नहीं आयी। यह तो वह बता चुका था कि सामने जो नदी बह रही है उसमें बहुधा संध्या को इसी प्रकार तेज आँधी चला करती है। उस आँधी की आवाज को सुन कर लगता था कि पुराने जमाने का कोई बहुत बड़ी सेना उधर से गुजर रही है। फिर भी वह भौंतू का चलना एक कौतूहल की बात थी।

नदी की ओर जाने का प्रयास करना उस समय ठीक नहीं लगा। सुबह वहाँ जाने का निश्चय करके मैं लौट आया। सामने जंगल से, किसी जानवर, तो कहीं किसी पक्षी की तेज भयध्वनी चीख कानों में पड़ती थी। दोस्त ने बताया था कि इस जंगल में इस समय एक चीता मादा अपने बच्चे के साथ रहती है। वहाँ का एक निवासी तो बता रहा था कि इस समय जितने जानवर वहाँ हैं, साहब चाहें तो कल वह उनको अच्छा शिकार करवा सकता है। वह नौजवान लड़का सारी बातों का वर्णन करते हुए उत्तेजित हो उठा था। उसने तो यह भी बताया था कि चार-पाँच रोज पहले जब कि वह जंगल में भैंसे चराकर लौट रहा था, तो उसने उस चीते को अपने बच्चे के साथ नदी के पास वाली खादिर में देखा था। उसका विश्वास था कि वह वहीं पर बाँस की घनी झाड़ियों में बीच रहती है। वहाँ पर नदी के कारण नमी रहती है, पानी भी उसके समीप ही है।

उस निर्भीक सत्रह-अठारह साल के लड़के की बातों को सुन कर कौतूहल हुआ था। वह तो स्वयं एक बार चीते के पंजों के पीछे-पीछे वहाँ तक गया था और उसने पाया था उस समय वह वहाँ लेटी हुई थी। यदि वह उस पर हमला करती, तो क्या होता! यह बात उसने न तब सोची और आगे भविष्य में भी ऐसा अवसर आयेगा तो भी वह नहीं सोच सकेगा। कारण कि रोजाना जीवन में जंगल के जानवरों से भेंट होती ही रहती है और मौका पड़ने पर तत्काल मोरचा भी उसी स्थिति के अनुसार सोचा जा सकता है।

और लोगों ने भी शिकार के लिए निमंत्रण दिये। दोस्त एक बड़े ओहदे पर नियुक्त होकर वहाँ की जाँच व प्रारम्भिक कार्य की रूप-रेखा निश्चित करने के लिए आये थे। अतएव हर एक ठेकेदार चाहता था कि उनको खुश कर के कृपा का पात्र बन जाय।

रात को हम खाना खा रहे थे। हम सब मिल कर सात व्यक्ति थे। पास की नदी से पकड़ी हुई मछलियाँ तथा जंगल से पकड़ कर लायी गयी मुरगियों का गोश्त था। इसके अतिरिक्त ठेकेदार समाज की अपने उपयोग के लिए लायी हुई विलायती शराब की बोतलें थीं। खाने में काफी गम्मत रही और दो तीन ठेकेदारों की हालत तो यह थी कि वे बिल्कुल बेहोश होने पर भी पेग पर पेग चढ़ा रहे थे कि कोई यह न समझ बैठे कि वे पीने में कमजोर हैं। मैं जंगली मुरगी की हड्डियाँ चबा रहा था। मछली का शोरबा भी मैं काफी पी गया। तभी मैंने एकाएक अपने साथी से पूछा कि यह भौंतू नदी में क्या चला करता है। मेरी उस अज्ञानता पर सब-के-सब अवाक् मुझे देखते रह गये। दोस्त ने बताया कि आज से बहुत साल पहले सुलताना भौंतू की फौज इसी तेजी से जंगल पार किया करती थी। सालों तक उसने हमारी सरकार की नाकों चने चबवाये थे। मीलों तक फैले हुए इस तराई भावर में उसका राज्य था।

'सुलताना भौंतू' एकाएक मेरे मुंह से छूट पड़ा।

उस वातावरण में मेरे वे शब्द छुप गये। उस व्यक्ति की बात बहुत पुरानी हो गयी थी। वह एक साधारण डाकू था, जिसे कि किसी अंग्रेज पुलिस अधिकारी ने पकड़ा था और कानून में उसे फाँसी की सजा दी थी।

: दो :

नौ बज गये थे। और सब लोगों को विदा करके मेरा साथी मेरे पलंग के पास आराम कुरसी पर बैठ गया। मुझे नींद नहीं आ रही थी। उसने मुझसे पूछा—"सुलताना के बारे में जानना चाहते हो?"

"सुलताना के?" मैंने आश्चर्य में दुहराया।

"हाँ, बूढ़ा गोबरसिंह उसे भलीभाँति जानता था और जब जवान था तो उसके तूफानी हमलों में कई बार शरीक हुआ था।"

गोबरसिंह, वह बूढ़ा खानसामा सुलताना के साथ रह चुका है, जान कर मुझे खुशी हुई। दोस्त ने बताया कि शुरू-शुरू में तो वह रोज संध्या को नदी के किनारे चलती हवा को सावधानी से सुना करता था। उसकी धारणा थी कि सुलताना मरा नहीं है। इस दुनियाँ में कोई उसे मार नहीं सकता। उसे लोगों ने बताया था कि सुलताना को सरे बाजार सिपाहियों से घिरा कचेहरी जाते हुए देख चुके हैं। उसके पाँवों में बड़ी-बड़ी बेड़ियाँ व हाथों में हथकड़ी पड़ी रहती हैं।

और वह बूढ़ा गोबरसिंह तो हंस पड़ा था। हंसते-हंसते उसकी आँखों से आंसू की धारा बह निकली और फिर उसकी सिसकियाँ बँध गयी। मैं समझा कि वह पागल हो गया है। दोस्तों ने शराब का एक पेग उसे दिया और अब तो नशे में उसकी आँखें चमक उठी थीं। उसने बाहर जाकर दो तीन बार थूका और फिर जोर से बोला—नमकहराम, जो कि कभी डर से सुलताना के आगे नहीं पड़ते थे और उसका नाम सुनते ही जिनको कँप-कँपी आने लगती थी, उनकी हिम्मत पड़ी कि वे सुलताना को बेड़ियाँ पहनावें।

गोबरसिंह अब भीतर पहुँचा और कहने लगा—"सरकार" वह देवता था। मेरा वास्ता पहले-पहल उससे तब पड़ा, जबकि मैं रुपये न होने के कारण अपने पुरखों की जमीन का पट्टा साहूकार के नाम लिखा आया था। वह खानदानी कर्जा कई पुश्त से नहीं दिया जा सकता था और उसको चुकाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं थी। साहूकार से हमेशा किसी न किसी काम के लिए कर्जा निकालना पड़ता है। उससे झगड़ा करके गाँव में कोई नहीं रह सकता है।

"पुरखों की जायदाद को कर्जे में चुका कर मैं फुर्ती से घर लौट रहा था कि जंगल की राह पर मुझे एक नौजवान मिला। उसने मुझसे शहर का समाचार पूछा। वह न जाने कैसे जान गया कि मैं बहुत दुःखी हूँ। फिर मेरी सारी बातें सुन कर उसने अपने कमर से एक थैली निकालकर मुझे दी

और कहा कि साहूकार के यहाँ जाकर अपना पट्टा वापस ले लूं। पर इससे पहले कि मैं उसे धन्यवाद दूं, वह चला गया था। साहूकार ने रुपया लेकर कहा था कि वह चोरी का माल है जो कि उसे भौंतू ने दिया है। उसने धमकी भी दी थी कि वह उसे पुलिस में दे देगा। तभी मुझे ज्ञात हुआ था कि वह कौन व्यक्ति है। उससे यदि बेईमान साहूकार घबराते थे, तो यह ठीक ही था। उससे स्वयं मुझे प्यार हो गया था। उस सरल व्यक्ति ने तो मुझे मोह लिया था। यही कारण था कि गरीब जनता उसे प्यार करती थी। हरएक अपनी जान की बाजी लगाकर भी उसकी रक्षा करना चाहता था। गरीब बुढ़िया का वह बेटा था। जहाँ भी कोई मुसीबत जदा दिखलाई पड़ता, वह वहाँ पहुँचकर उसकी मदद करता था। कभी उसने बेकसूर को नहीं सताया था। सरकारी पैसा खानेवाले पुलिस के जासूस कभी भी जनता के हृदय को नहीं टटोल सकते थे। और सुलताना तो उसी जनता के हृदय में छुपा रहता था। हरएक उसे आश्रय देना अपना गौरव समझता था।

"मैं भी तीन साल से उसके साथ रहा। उसे सभी जंगलों की पूरी-पूरी जानकारी थी। उसका प्यारा कुत्ता सदा उसके साथ रहता था। जंगली पशु भी शायद उस सहृदय व्यक्ति को पहचान गये थे। वह जानता था कि एक अंग्रेज अधिकारी उसे पकड़ने के लिए तैनात किया गया है। लेकिन कभी उसने उसकी हत्या करने की नहीं ठहराई। वह तो एक बार उस पुलिस के अफसर से निहत्था ही मिला था और उसे एक तरबूज भेंट करके कहा था कि वे बेकार एक डाकू के पीछे अपनी जान जोखिम में डालते हैं। उसने सावधान किया था कि सुल्ताना अपने दुश्मन को भी धोखे में नहीं मारता और न पीछे से हमला करता है। यह भी वह जानता है कि वे अपने परिवार से दूर यहाँ नौकरी करने के लिए आये हैं। उसकी उनसे कोई लड़ाई नहीं है। साहब ने समझौते की बात चलाते कहा था कि वह बिना किसी शर्त के यदि सरकार की शरण में आ जावे तो सरकार उसकी माफी पर विचार करेगी। इस पर वह हँसा था कि एक सिपाही माफी कभी नहीं माँगता है। वह तो केवल हार या जीत ही जानता है।

"बदमाशों के लिए सुल्ताना का नाम परेशानी पैदा करता था। उसकी आँखों से कभी कोई अपराध छुपा नहीं रहता था। मनो सोना लूटनेवाला सुल्ताना सब कुछ गरीबों को बाँट देता था। उसके हाथ सदा खाली रहते थे। वह कभी शराब नहीं पीता था। एक बार उसके दल के कुछ साथियों ने एक बारात लूटी थी। एक मनचला नववधू को भी पकड़कर ले आया था। सुल्ताना ने जब सुना तो उस युवती को स्वयं उसके पिता को सौंपकर माफी माँगी थी। उस युवती की बहन की विदाई में सोने के कई गहने भी दिये थे।"

"सरकार ने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। जिस गाँव पर भी उसे आश्रय देने का शक होता वहाँ पुलिसवाले पहुँचकर मनमाना अत्याचार करते थे। सैकड़ों निरपराध युवकों को पुलिस पकड़कर ले जाती कि वे उसकी सहायता करते हैं। गाँवों को उस प्रकार लुटने का हाल सुनकर उसका हृदय काँप उठता था। इसीलिए एक दिन उसने अपने चुने हुए साथियों के अलावा सब को विदा कर दिया था। वे उसे नहीं छोड़ना चाहते थे। पर उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति किसी में न थी। विदाई के दिन वह बहुत दुःखी था। पर बेबसी में क्या करता।"

गोबरसिंह उसके बाद का समाचार इतना ही जानता था कि सुलताना को फांसी लगी थी। उसका पूरा विश्वास था कि सुलताना चाहता तो कोई शक्ति उसे पकड़ नहीं सकती थी। वहाँ की सारी जनता का वह प्यारा बेटा किसी के पकड़ में न आता। यह उस देश के कंलक की बात होती। सुलताना एक दिन इसीलिए अपने साथियों के साथ युद्ध करता हुआ पकड़ा गया था। वह बहादुर सिपाही था, इसीलिए उसने आत्महत्या स्वीकार नहीं किया। वह तो दिखा देना चाहता था कि अंग्रेज की कचहरी वाला न्याय कितना झूठा है!

सुल्ताना अपने प्यारे कुत्ते को उस अंग्रेज अफसर की संरक्षकता में सौंप गया था जिसने कि उसे पकड़ा था। इन जंगलो में रह कर उसके मानव हृदय पाया था। दुनिया में इतने सहृदय व्यक्ति शायद कम पैदा होते हैं। पुलिस विभाग में सैकड़ों फाइलें मिलेंगी, जिनमें कि पेशेवर पुलिस के अधिकारियों

की झूठी रिपोर्ट होगी। न्यायालय की फाइलों में—जहाँ कि इंगलैण्ड के बड़े घरानों के बच्चों को जज बनाया जाता था—वहाँ उपनिवेश के इस नागरिक को खूनी और बदमाश बताया गया होगा। लेकिन उसकी कहानी तो यहाँ का बच्चा-बच्चा जानता है। हर एक चाहता है कि उसका बच्चा वैसा ही नेक, सहृदय, चरित्रवाला और बहादुर बने। वह उस धरती का बेटा था, जिसका शोषण करने के लिए अंग्रेज आया था। तराई का चप्पा-चप्पा आज भी उसकी जीवन घटनाओं की गूंजों से भरा हुआ है।

भौंतू चल रहा है, यह सुन कर मेरे मन में कम कौतूहल नहीं हुआ था। वह गति कैसी स्वस्थ थी। वह बूढ़ा चला गया था और सोने के पहले दोस्त ने पूछा—"जानते हो, यह यंग कहाँ है?"

यंग? वह पुलिस का सिविलियन अधिकारी जिसने भौंतू को गिरफ्तार किया था।

"वह आजकल मलाया में—विद्रोहियों को दबाने में—मोरचाबन्दी कर रहा है। मलाया की जनता को कुचलने का प्रयास!

: तीन :

और अगले दिन मैं शाम को कार से रेलवे स्टेशन पर पहुँच गया था। दोस्त ने मुझे विदाई दी। शाम का वक्त था। सूर्य की लाली पश्चिम में फैल रही थी। गाड़ी तेज़ी से चल रही थी। सामने एक पुराने किले के अवशेष दिखलाई पड़े। पूछने पर सहयात्री ने बताया कि इसी किले में जरायम पेशे वाले लोगों को सरकार रखती थी और सुलताना का बचपन इसी में कटा था। यहीं से भाग कर वह स्वतंत्र हुआ था।

वह किला पीछे छूट गया और सोचा मैंने कि यदि उस व्यक्ति को अवसर मिला होता...!

लेकिन डाक बँगले के पास बहती नदी तो सदा बहती रहेगी और गरमियों की संध्या में सदा ही वहाँ भौंतू चलेगा...!

मिस्टर पिल्ले

[लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी]

दूर से उनकी गञ्जी खोपड़ी पीतल के स्वच्छ कटोरे की तरह चमकती प्रतीत होती। कानों के ऊपर दोनों ओर बाल हैं। कद छोटा, ठिगना। आवश्यकता से अधिक स्थूलकाय शरीर। कभी-कभी कुर्सी पर बैठने के पश्चात् जब उठकर खड़े होते हैं, तो कमर के दोनों कूल कुर्सी के हत्थों के बीच ऐसे फँस जाते हैं कि कुर्सी भी उन्हीं के साथ उठ खड़ी होने का उपक्रम करने की हठधर्मी करती है। दांत स्वच्छ, मोती की तरह चमकदार, किन्तु सामने के दो गायब ! सिगरेट के बजाय सिगार खुले दांतों के रिक्त स्थान की अच्छी पूर्ति करता है। आँखों पर चश्मा है, पुरानी चाल का, परन्तु जब वे निकट किसी से बातें करते हैं, तो शीशे के बीच से न देख, उसके ऊपर से आँख चढ़ा कर देखते हैं। ओंठ मोटे और भद्दे, जो तलवार छाप मूछों की शोभा को प्रसारित करने में भयंकर बाधा उपस्थित करते हैं। यह हैं, मिस्टर पिल्ले !

परिचय ?—परिचय भी इसी प्रकार हुआ। मैं राशन आफिस कार्ड बनवाने गया था। एक बाबू ने कहा—'पिल्ले साहब बनायेंगे। आते ही होंगे, समय हो चुका।'

मैंने सोचा कल आकर बनवा लूंगा और चलने को हुआ कि चपरासी ने कहा—'आ गये पिल्ले साहब, आज बहुत देर कर दी, साहब ने !'

चपरासी के निकट आकर वे बोले—'क्यों ? ठीकठाक तो ?'

'जी, लोग आपका इन्तजार कर रहे हैं, कुछ बेचारे तो लौट भी गये।'

'जो गये जाने दो, उनकी चिन्ता क्या ? है कौन यहाँ अब ?'

चपरासी ने मेरी ओर संकेत कर के कहा—'आप भी बस लौटे ही जा रहे थे।'

'अच्छा ठीक, आप ? नहीं, नहीं अब मैं आ गया हूं। खाली हाथ क्या जाइयेगा ? बैठिये। अभी कार्ड बनता है।' मिस्टर पिल्ले ने बड़ी विनम्रता से मुझसे कहा। फिर दूसरे ही क्षण चपरासी से कहा—'देखो, उस तांगे वाले को एक रुपया दे दो।'

'हुजूर मेरे पास..........'

'अबे तुझसे कौन कहता है ? किसी बाबू से लेकर.....'

चपरासी खाली हाथ लौट आया, बोला—'साहब....'

तब मिस्टर पिल्ले ने मेरी ओर देखा।

मुझे कार्ड बनवाना था। सेवा न करने से बाधा भी उपस्थित हो सकती थी। मैं तपाक से बोला—'हाँ साहब, मैं दिये देता हूं, यह लीजिये।'

मेरे हृदय में जैसे किसी ने पिन चुभो दी हो। लेकिन पिल्ले साहब ने तुरन्त चपरासी से कहा—'सभी कंगाल तो नहीं हैं यहां ? जा ताँगे वाले को....'

चपरासी चला गया और लगभग एक घण्टे में मेरा कार्ड भी बन कर तैयार हो गया। मिस्टर पिल्ले उसी समय से मेरे अन्तरंग मित्र ही नहीं बने, बल्कि अध्ययन की पुस्तक भी।

मिस्टर पिल्ले ने कई बार आग्रह करते हुए कहा था—'किसी दिन मेरे बंगले पर भी तशरीफ लाइए।'

मैं टालता जा रहा था। क्योंकि मेरे और उनके संस्कारों में बड़ी भिन्नता थी। उनकी स्वीकृति मेरे निकट अस्वीकृति थी और उनकी अस्वीकृति मेरे लिए स्वीकृति थी।

एक दिन मेरे जी में आया चल कर मिस्टर पिल्ले का दर्शन करूँ और मिस्टर पिल्ले के बंगले को खोजता, उस हाते में जा पहुँचा, जहाँ का उन्होंने हवाला दिया था। एक बच्चे से मैंने पूछा—'यहाँ पिल्ले साहब भी रहते हैं।'

'कौन वे पादरी साहब ? वह वहां जाइये।' लड़के ने एक दिशा की ओर संकेत कर दिया।

मैं विचार करने लगा—ये तो मद्रासी हैं, किन्तु पादरी कैसे और कब हो गये ?

मैं सामने जा खड़ा हुआ। देखा—निहायत गन्दी कोठरी, बहुत तंग, दिन में मच्छरों की भनभनाहट, कोठरी के सामने कूड़े का ढेर। चारों ओर की छोटी-छोटी कोठरियों में हरिजन, कोरी और चटाई बनाने वाले रहते हैं। हाते के धुए ने सूर्य की रोशनी को मन्द-सा कर दिया है। और उस कोठरी में दो स्त्रियाँ लड़ रही हैं। लड़ाई मद्रासी भाषा में हो रही थी, जो निश्चय ही ध्यान से सुनने की उत्सुकता पैदा कर रही थी। आपस के कुछ अनपढ़ लोग उस वाक्युद्ध का आनन्द ले रहे थे और कभी-कभी बीच में, व्यंग्य से मुस्कराते भी थे।

ये दोनों मिस्टर पिल्ले की ही पत्नियाँ हैं, यह रहस्य मुझे उसी दिन, उसी क्षण मालूम हुआ।

मैं भी सुनता रहा। जो कुछ भी समझ में आया वह यह कि झगड़ा डबल रोटियों को लेकर हो रहा है। मिस्टर पिल्ले की स्थिति गम्भीर है। आज उनकी जेब कतई खाली है। यदि डबल रोटी की व्यवस्था हो जाती, तो मामला सम्हल जाता। किन्तु मिस्टर पिल्ले मजबूर हैं। इतना होने पर भी एक अन्याय और भी कर रहे हैं वे पक्ष लेते हैं, अपनी उस पत्नी का जो कुरूप, भोंडी और स्थूलकाय है।

मैं खड़ा-खड़ा ऊब रहा था कि पिल्ले साहब की दृष्टि मुझ पर पड़ी। वे झट बाहर निकल आये। बोले—"मूर्ख हैं, ये देहाती!"

मैंने कहा—'बात सच है। लेकिन यह सम्भालिए पाँच का नोट और फिलहाल जिन वस्तुओं को लेकर झगड़ा हो रहा है, जिनकी कमी है, उन्हें मंगा लीजिए।'

उन्होंने शीघ्र ही—सधन्यवाद—नोट ले लिया और उसे उन दोनों के बीच फेंकते हुए कहा—'यह लो, किन्तु अब चुप रहो।'

फिर मेरी ओर मुँह कर के अपनी पत्नी की ओर इशारा कर बोले— मिस्टर बाञ्चू, 'मैं किसी प्रकार भी उसे असन्तुष्ट नहीं कर सकता।'

मैंने प्रश्न कर दिया—'ऐसा क्यों मिस्टर पिल्ले ?'

उत्तर में उन्होंने अपनी दूसरी पत्नी की ओर इशारा कर कहा—'यह मेरी पहली 'वाइफ' है। देखने-सुनने में गोकि अच्छी है, परन्तु अनावश्यक रोब गालिब करना चाहती है जो मुझे बरदाश्त नहीं। फिर, इससे भी कहीं ज्यादा जो बात मेरे निकट अहमियत रखती है, वह है, उस बेडौल स्त्री की बात रखना, उसका सम्मान करना। कारण, उसके नाम बैंक एकाउण्ट है। वह कभी किसी की पत्नी थी। दूसरी शादी मैंने इससे की, केवल पैसे को देख कर। शादी के पूर्व इसने पूछा था—'आप विवाहित तो नहीं ?' तब मैंने इससे झूठ ही कह दिया था—'नहीं।' जब शादी हो चुकी और असलियत खुली, तो इसको मानसिक चोट लगी। सच तो यह था कि बैंक एकाउण्ट इसी के नाम है, काम तो यही आयेगी। इसे नाराज कैसे किया जा सकता है ?'

मैं अब वहाँ से खिसकने वाला था, कि इसी बीच एक दूसरा व्यक्ति भी हमारी ओर आता दिखाई पड़ा। मिस्टर पिल्ले अन्दर खिसक गये। वह मेरे निकट आ कर खड़ा हो गया। खड़ा रहा काफी देर तक। मैं भी पिल्ले साहब की प्रतीक्षा करता रहा। किन्तु वे बाहर नहीं निकले। उनकी एक पत्नी ने कहा—'साहब मार्केटिंग करने गया है। अभी सब जाओ !'

'किधर से गया साहब ?'

'पिछले दरवाजे से।'

मैं आश्चर्य में पड़ गया। आखिर ऐसा मिस्टर पिल्ले ने क्यों किया ? क्या आवश्यकता आ पड़ी ? तत्काल ही मैंने उन आगन्तुक महाशय से प्रश्न किया—'आप कैसे पधारे ? कोई काम था साहब से ? राशनकार्ड.. तो..

'जी नहीं, जी नहीं, यह क्रिस्तान रुपये उधार लाया था, अब देता नहीं है। पचीसों बार आ चुका हूं, लेकिन आना ही व्यर्थ कर देता है। आज ही,

देखिए न, आँख में धूल डाल कर कैसे चम्पत हुआ है ? अच्छा 'अब बच्चू से निपट ही लूँगा।'

मिस्टर पिल्ले के क्रियाकलाप मुझे विचित्र-से लगे । मैं मुस्कराकर घर की ओर चल पड़ा ।

दूसरे ही दिन, सचमुच ही मिस्टर पिल्ले हास्पिटल में दाखिल कर दिये गये थे, जो एक ओर 'स्प्रिंगदार बेड' पर लेटे चोटों का आनन्द ले रहे थे ।

समाचार मिलने पर मैं उन्हें देखने हास्पिटल जा पहुँचा। देखा—उनकी एक टाँग और एक हाथ ऊपर उठा कर बाँध दिया गया है।

मैंने सहानुभूति के स्वर में पूछा—'यह सब क्या मिस्टर पिल्ले? '

'हाथ-पैर झूला-झूल रहे हैं; कोई विशेष बात नहीं है ?'

'आखिर यह सब हुआ कैसे ? कहीं झगड़ा फिसाद.....?'

'कतई नहीं। मेरी किसी से दुश्मनी ही क्यों होने लगी ? मैंने किसी का बिगाड़ा ही क्या है ?—यह सब मोटर-दुर्घटना का परिणाम है।'

मैं ठहाका मार कर हंस पड़ा। मिस्टर पिल्ले ने पूछा—'आखिर हंसी कैसे आयी ?'

'साहस पर ! मैंने उत्तर दिया।

'चिन्ता क्या ? दो दिन में जैण्ट होकर फिर आता हूँ, मिस्टर बाञ्च् ! यह सब चलता रहता है।' कह कर उन्होंने मुझे सर हिला कर वहाँ से चले जाने की आज्ञा दे दी।

ज्यों ही मैं हास्पिटल के बाहर आया, त्योंही फिर ठहाका लगा कर हँस पड़ा—अपने प्रभु के गुण गान के उपलक्ष में।

× × ×

उस दिन मेरें यहां अनेक अतिथि आ गए थे। राशन की कमी देखकर अनायास ही पिल्ले साहब का स्मरण हो आया। सोचा मैंने—अब उन्हीं की शरण लेनी चाहिए।

सन्ध्या समय उनके बंगले पर जा पहुंचा। देखा—मिस्टर पिल्ले नहीं

हैं। उनकी एक पत्नी बाहर निकली और बोली—'आप मेरे पतिदेव को चाहते हैं ?'

मैंने मुस्करा कर उत्तर दिया—'अवश्य, उन्हीं की तलाश में आया हूँ।'

उँगली से सामने की ओर इशारा कर बताया—'वे हैं।'

मैं निकट गया। देखा—एक टेबिल पर एक होल्डाल लिपटा रखा है और सर तथा पैर उसके बाहर हैं। वे सोये हुए हैं मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ, कि यह बिस्तर नहीं, मिस्टर पिल्ले हैं।

जगाने पर मालूम हुआ—दिन में उन्होंने आज ज्यादा पी ली थी; तबीयत भारी रही, इसालिए इस प्रकार सो गये हैं।

मैंने अपनी मुसीबत कही और, उन्होंने रास्ता बता दिया। मैं सन्तुष्ट हो गया।

मैंने पूछा—'क्या तबीयत ठीक नहीं है ?'

उत्तर मिला—'सो तो है ही। सैकड़ों की हानि भी हो गयी।'

'वह कैसे ?' मैंने प्रश्न किया।

'उससे आपका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। उसे जाने भी दो मिस्टर बाञ्चू !'

मैं उन्हें नमस्कार कर घर लौट पड़ा। रास्ते में सोचता आगे बढ़ रहा था कि आज वे इतने सुस्त क्यों थे—शायद किसी से रिश्वत मिलने वाली होगी, हाथ से शिकार निकल गया होगा! दूसरा और कारण ही क्या हो सकता है ?

इतने में मिल गए मिस्टर यज्ञदत्त। इनसे मेरी पुरानी जान-पहचान है। हरफनमौला आदमी हैं। उन्होंने पूछा—'क्यों भई, आप मिस्टर पिल्ले को कैसे जानते हैं ?'

'जानता कहाँ हूँ, जानने की चेष्टा कर रहा हूँ, किन्तु उन्होंने मेरे सारे प्रयत्न बेकार कर दिये।'

'कैसे ?'

'कहीं पर भी उन्हें समझ नहीं पाया, आपकी बात का केवल इतना ही

उत्तर हो सकता है। लेकिन मैं चूंकि उनसे दिलचस्पी लेता हूँ, इसलिए उन्हें छोड़ना भी अच्छा नहीं लगता। कभी-कभी तो मुझे उन पर बड़ी दया आती है और विषय, प्रतिकूल परिस्थितियों से घिरा देख सहानुभूति भी . .।'

'अजी, आज तक तो मैं ही अपने को तीसमारखां लगाता था, लेकिन उन्होंने तो हम लोगों को भी पीछे छोड़ दिया।'

'क्या मैं भी आपसे उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त कर सकता हूँ ?'

'तो सुनिये। लेकिन सब कुछ गोपनीय है।'

'कतई, विश्वास रखिए।' मैंने उत्तर दिया।

मिस्टर यज्ञदत्त ने कहना प्रारम्भ किया—कल अपनी मित्र मण्डली के साथ हम लोग शबनम के यहां जा रहे थे। रास्ते में मिल गये मिस्टर पिल्ले। बोले—'मुमकिन है, मेरी उपस्थिति आप लोगों को अप्रिय मालूम हो।' उनके इस वाक्य का अर्थ था, यदि उन्हें प्रसन्नतापूर्वक नहीं ले जाया जायगा, तो उनके वहाँ पहुँचने का भी सन्देह किया जा सकता है। हम लोगों ने उन्हें भी ले लिया। वहां पहुंचने पर हम लोग ताश खेलने और पीने-पिलाने में लग गये और मिस्टर पिल्ले लेटे-लेटे जाने क्या विचार करते रहे। पी चुकने के बाद उन्होंने अपने लेटने का स्थान चुना टेबिल, जिस पर शबनम बहुधा बैठ कर लिखा-पढ़ा करती है। कुछ समय तो वे धैर्य से लेटे रहे और बाद में उठ खड़े हुए और अकचका कर बोले—मिस्टर यज्ञदत्त , मुझे आज्ञा दीजिये। अब न रोकिये, बिल्कुल न रोकिये। मैंने पूछा—'क्यों ? क्या बात हो गयी ?''

'मिस्टर पिल्ले ने उत्तर दिया—'अभी-अभी आपके मिलने के पूर्व मैं 'ब्राइट हाल रेस्ट्रोंराँ' में चाय इत्यादि ले रहा था। मेरे हाथ में बेग था और उसमें कुछ सरकारी कागजात तथा १५०) रुपये। 'मैं उसे वहीं भूल कर चला आया हूँ।'

'सभी कह उठे—'फौरन जाइये साहब, फौरन! यहाँ शिष्टाचार निभाने की अब आवश्यकता नहीं है।'

मिस्टर यज्ञदत्त कहते रहे—'पिल्ले साहब वहाँ से खिसक आये। दूसरे दिन वे एक स्वर्णकार के यहां पहुँचे थे और अपनी पत्नी का हार बेच रहे थे। स्वर्णकार ने उसे कई बार कसौटी पर घिसा और उत्तर दिया—'साहब', यह चोरी का माल दिखता है। मुझे माफ कीजिये।

'दूसरे दिन की घटना मुझे उनके एक अन्तरंग मित्र से मालूम हुई।' मिस्टर यज्ञदत्त ने कहा—'इतनी ही नहीं, उसी दिन संध्या समय जब मैं मिस्टर पिल्ले के साथ वायुसेवन के लिए जा रहा था और शबनम की कोठी के नीचे से गुजरा, तो ऊपर से आवाज आई—'आइये न साहब, आज हार नहीं ले जाइयेगा? मैंने सम्पूर्ण घटनाचक्र को समझ लिया।'

मिस्टर यज्ञदत्त की बातें सुनकर मैं ठहाका मार कर हंस पड़ा और घर की ओर चल पड़ा। रास्ते भर मैं मिस्टर पिल्ले के चरित्र की बारीकियों को सोचता रहा और घर आया तो देखा—पिल्ले साहब उपस्थित हैं। मैंने पूछा—'क्यों कैसे?'

बोले—'पाँच रुपया दीजिए मिस्टर वाञ्चू। वाइफ को कालरा हो गया है और दवा दारू की व्यवस्था करनी है।'

मै कुछ भी उत्तर न दे सका और जेब से सहानुभूतिपूर्वक पाँच रुपये निकाल कर उनकी भेंट कर दिये।

× × ×

इधर मैं बहुत दिनों से मिस्टर पिल्ले से नहीं मिला; किन्तु सुनने में आया, वे नौकरी से घूसखोरी के अपराध में, अलग कर दिये गये हैं।

लेकिन जैसे मिस्टर पिल्ले पर प्रभु की सदैव कृपा होती रही है। सन्ध्या को जब उस दिन मैं अपने मित्रों के साथ वायुसेवन के लिये जा रहा था, तो देखता हूं—मिस्टर पिल्ले विचित्र ड्रेस में खड़े हैं। मस्तक पर एक बैटरी लगा रखी है। शरीर सूट-बूट से लैस है। सर पर बढ़िया नाइट कैप है। एक बूढ़ा सेवक खजूर का बड़ा पंखा पीछे खड़ा झल रहा है। वे उच्च-कोटि के मंजन बेच रहे हैं। और दूर की हाँक रहे हैं।

मैं जो अनायास वहां जा खड़ा हुआ तो उनकी दृष्टि मुझ पर आ पड़ी।

अपने चारों ओर खड़ी भीड़ को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—'हाथ कंगन को आरसी क्या? आप सब लोग मिस्टर बाञ्चू के दांतों को देख सकते हैं। कैसे स्वच्छ और मोती जैसे दांत हैं? इनका सौन्दर्य इनके दांत हैं। ये मेरे पुराने ग्राहक हैं और सदैव मेरा ही मंजन प्रयोग में लाते हैं।' इतना कह चुकने के बाद वे मेरे दांत खोल कर भीड़ को दिखलाने लगे।

भीड़ मेरी ओर देखने लगी। मिस्टर पिल्ले ने कहा—'कहिये न साहब आपको मेरा मंजन लगाते कितने वर्ष हो गये।'

मेरे मूँह से अनायास ही निकल गया—'कई वर्ष!'

लोग मंजन की शीशियों को खरीदने लगे और पिल्ले साहब बिक्री में जुट गये। मैंने अवसर पा कर राह ली। अपनी कमजोरी पर मुझे तरस आ रहा था, परन्तु कर ही क्या सकता था? यह विवशता की असमर्थता थी।

लगभग पन्द्रह दिन पश्चात् चौराहे पर काफी भीड़ थी। मैं दफ्तर से घर लौट रहा था। पुलिस कई व्यक्तियों को घेरे खड़ी थी। उत्सुकतावश मैं अपनी साइकिल रोक कर नीचे आ गया। एक व्यक्ति नें पूछा—'भाई क्या बात है?'

'काबुली लड़ रहे हैं।'

'क्यों?'

'पता नहीं!'

मैं भीड़ के निकट जा पहुँचा। दूर से देखा—काबुली खून से लथपथ है। इसी बीच कान में आवाज पड़ी—'मिस्टर बाञ्चू, मिस्टर बाञ्चू!'

मैंने घूम कर देखा, तो मुंह से निकल गया—'मिस्टर पिल्ले! क्या बात है? यह सब क्यों?'

'इसकी परवाह क्या? अच्छे मौके पर मिले, सुनो तो!'

मैं मिस्टर पिल्ले के निकट आ गया। उन्होंने कान में कहा—'घर में कह देना जाकर, मैं तीन महीने के लिए कलकत्ता गया हूं। इस घटना का क़तई जिक्र न करना, हाँ.....?'

मैंने सर हिलाते हुए अपनी स्वीकृति दे दी। फिर मिस्टर पिल्ले गरम पड़े और काबुली वाले की ओर देख कर बोले—'कच्चा खा जाऊँगा कच्चा! समझा क्या है तूने मुझे! तेरा काम है, देना और मेरा काम है लेना! लेकर भी कोई वापस देता है? वह कोई दूसरे होंगें?'

भीड़ मिस्टर पिल्ले के साहस पर दंग थी। लोग कह रहे थे—'अच्छा आज काबुली को ब्याज दिया है इस पट्ठे ने! हिन्दुस्तानी जनता को ये लूटते हैं, लूटते। इनक साथ इसी तरह पेश आना चाहिए।'

काबुली और मिस्टर पिल्ले पुलिस की लारी में बैठ गये। लारी चलने लगी, तो मिस्टर पिल्ले ने प्रसन्नतापूर्वक मेरी ओर देखा और कहा—'अच्छा चले दोस्त, अलविदा!'

इसके बाद कानपुर से मेरी बदली बनारस हो गयी। मैं अपनी पारिवारिक समस्याओं में ऐसा उलझा कि मिस्टर पिल्ले को केवल भूल ही भर नहीं गया, बल्कि ऐसा अनुभव हुआ मुझे जैसे मेरा उनसे न कभी परिचय था और न कोई किसी प्रकार की जान पहचान ही! कभी भी उनका काल्पनिक चित्र मेरे स्मृति पट पर भूल से भी नहीं प्रतिबिम्बित हो सका।

एक दिन, सन्ध्या समय, अपनी आवश्यक वस्तुओं को खरीद कर घर लौट रहा था। मैंने देखा—सामने मोटर साइकिल पर, फौजी पोशाक में, मिस्टर पिल्ले!

आश्चर्य से एक बार चकित हो गया। हाथ अपने आप—मोटर साइकिल को रोकने के लिए उठ गये।

साइकिल रुक गयी। मिस्टर पिल्ले ने फौरन ही पहचान लिया। बोले—'हल्लो मिस्टर बाञ्चू! यहाँ कैसे?'

'बदली हो गयी है।' मैंने उत्तर दिया।

अंग्रेजी में उत्तर दिया—'बहुत अच्छा हुआ। आओ, बैठो, साथ चलो!'

मैंने कहा—'कहाँ जाना है?'

'बँगले। बैठो, चलो!'

मैं साइकिल पर बैठ गया। उस क्षण मेरी विचित्र स्थिति थी। मोटर साइकिल तेजी से दौड़ती एक सुन्दर बँगले के सामने आकर लग गयी। मिस्टर पिल्ले ने कहा—'यह है मेरा गरीबखाना। मैं यहाँ का सीनियर मार्केटिंग इन्सपेक्टर हूँ। जमाना बदल गया!'

मेरे मस्तिष्क में वह चित्र नाच उठा, जब एक दिन मिस्टर पिल्ले पुलिस लारी में, अपराधी के रूप में, बड़े घर जाने की तैयारी कर रहे थे। मैं ठहाका मार कर हंस पड़ा। मेरे मुंह से अनायास ही निकल गया—'मैं आपको आपकी सफलता के लिए मुबारकबाद देता हूँ।'

और टेबिल पर चाय हम लोगों की प्रतीक्षा कर रही थी।

चुनौती

[विष्णु प्रभाकर]

बद्रीनाथ यात्रा का महत्व प्राचीन काल में चाहे कितना ही प्राकृतिक रहा हो, पर आज वह केवल धार्मिक है। यात्रियों की श्रेणी इस बात का प्रमाण है। सरकारी खर्च पर लोक परलोक बनाने वाले अधिकारियों को छोड़ कर अधिकतर बूढ़े स्त्री, पुरुष, विधवाएं या वीतराग अथवा और किसी प्रकार से दुखी व्यक्ति ही मुक्ति की प्यास लिए, अपने थके और जर्जर चरणों से उस विकट मार्ग को नापते देखे जाते हैं। और फिर इन लोगों की यात्रा की अन्तिम सीमा बद्रीनाथ के मन्दिर पर पहुंच कर समाप्त हो जाती है। उससे दो मील आगे भारतभूमि के अन्तिम गांव 'माना' या पांच मील आगे के हिम-प्रपात वसुधारा को देखने कोई विरला ही जाता है। सतोपन्थ और अलकापुरी जाने की तो कल्पना करना भी दूर की बात है।

हमारे गोपाल बाबू इनमें से किसी श्रेणी में नहीं आते। शरीर से क्षीण होने पर भी उन्हें वृद्ध नहीं कहा जा सकता। वीतरागी भी वे नहीं हैं; क्योंकि धर्म के नाम से वे उसी प्रकार भड़कते हैं जिस प्रकार सांड़ लाल कपड़े से। इसलिए जब उन्होंने उत्तराखंड के दुर्गम पथ को ग्रहण किया, तब एक धर्म-भीरु वृद्धा ने यही सब देख कर उनसे पूछा—'बेटा! तुम कहां जा रहे हो? तुम्हारी तो अभी यात्रा करने की उमर है नहीं।"

गोपाल ने उत्तर दिया—"मां! मैं यात्रा करने नहीं आया हूँ।"

तब चकित स्वर में वह वृद्धा बोल उठी—"यात्रा करने नहीं आये, तो आये किसलिए हो?"

"प्रकृति से प्रेम करने।"

वह धर्म-भीरु वृद्धा इस उत्तर का अर्थ क्या समझती। हँस कर रह गई। परन्तु गोपाल ने सारी यात्रा में इस प्रकृति-प्रेम का खुल कर परिचय दिया। यहां तक कि बद्रीनाथ पहुँच कर भी उसने मन्दिर में होने वाले उत्सवों में कोई रुचि नहीं ली। किसी तरह रात बिता कर वह सबेरे ही वसुधारा के लिए चल पड़ी। उसका मित्र आनन्द सपरिवार उसके साथ था। और गोपाल उनके साथ था, यह कहें तो अधिक सत्य होगा। क्योंकि आनन्द एक बड़ा सरकारी अधिकारी था और निरीक्षण के कार्य से उधर जा रहा था। अच्छा साथ रहेगा—यह समझ कर गोपाल उसके साथ हो लिया था। वैसे उसका साथ बहुत सीमित था। ठहरने और खाने की सुविधा ने उन्हें बाँध रखा था। नहीं तो गोपाल सदा सब को छोड़ कर प्रकृति से प्रणय करने की धुन में आगे बढ़ जाता था। वसुधारा के मार्ग पर भी उसने सब को पीछे छोड़ देना चाहा, पर तभी आनन्द ने पुकार कर कहा—"अरे गोपाल! क्या पितरों को पानी भी नहीं दोगे?"

गोपाल ठिठका। बोला—"कैसे पितर? तुम कहना क्या चाहते हो?"

"वह देखो, तुम्हारे दाहिने हाथ पर, अलखनन्दा के किनारे, उस शिला पर अँजलि की मूर्ति अंकित है।"

"हाँ वह है तो......।"

"वह ब्रह्मकपाली है। कहते हैं, यहां स्वर्गद्वार से अंजलि फैला कर पितर लोग अपने वंशधरों से पिण्डदान ग्रहण करते हैं।"

गोपाल ने हाथ की लाठी पर अपनी समस्त देह को तौलते हुए जवाब दिया—"आनन्द। मैं पुण्य अर्जन करने नहीं, ज्ञान-अर्जन करने आया हूँ।" और यह कह कर वह रुका नहीं, आगे बढ़ गया।

तब तूफानी हवा थम चुकी थी। आकाश में कहीं कोई मलीनता नहीं थी। मेघ थके पथिक की भांति हिम-शिखरों पर आराम कर रहे थे। दिशाएं निखरी नीलिमा से मुखरित हो रही थीं और अरुण किरणों का मुकुट पहन कर कैलाश की गरिमा नव वधू की तरह मुस्करा उठी थी।

गोपाल जिस मार्ग पर चल रहा था, वह अलखनन्दा के दाहिने किनारे

पर, नारायण पर्वत के चरणों में, दूर तक समतल भूमि पर चला गया था। इस ओर कहीं-कहीं आवास-गृह थे उस ओर नर-पर्वत के आंचल में दूर-दूर तक ऊँची-नीची भूमि पर अनेक भेड़-बकरियां और घोड़े चर रहे थे। उन्हें देख कर सहसा गोपाल को याद आया, यहीं कहीं श्याम-कर्ण घोड़े दिखाई देते हैं। तब उसने दृष्टि गड़ा कर दूर-दूर तक उन अलौकिक जीवों को खोजना शुरू किया और फिर कुछ क्षण बाद वह एकदम लज्जित हो कर हंस पड़ा—"मैं भी कैसा मूर्ख हूँ। जो नहीं है उसी को खोज रहा हूँ!"

तब भीतर का गोपाल यह सोच कर और भी तेजी से हंसा—"जो नहीं है, उसी को तो खोजा जाता है। उसी की खोज के लिए ज्ञान का समस्त उपयोग है।"

गोपाल का अन्तर जैसे हिल उठा—"विश्वास-अविश्वास का यह कैसा संघर्ष है! यह कैसा देवासुर संग्राम निरन्तर चलता रहता है। ऊपर से जो कुछ है, उसका बिल्कुल उल्टा ही क्यों अन्तर में रहता है? अहंकार, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, दम्भ, इनमें क्या बहुत अधिक अन्तर है? अन्तर की कुरूपता, मालिन्य और संदेह—ये ही क्या बाहर के दम्भ के दूसरे रूप नहीं हैं! हाय रे नगण्य पुरुष! तू क्या नगाधिराज के इस विराट रूप के सामने अपनी अहन्ता की विफलता को स्वीकार नहीं करेगा!! ....

"नहीं ... नहीं ....।" गोपाल ने मानो चीख कर कहा—"नहीं, मनुष्य दीन नहीं है, लघु नहीं है, वह यहां है; और यही उसकी महानता का प्रमाण है।"

वह इसी संघर्ष में तल्लीन था कि आनन्द ने उसके कन्धे को छूकर कहा—"वह देखो गोपाल, तुम्हारे अध्ययन की एक वस्तु ....।"

"क्या?" गोपाल चौंका।

"वह देखो वह पक्षी।"

गोपाल ने उसी दिशा में देखा—एक कौवे जैसा पक्षी है, पर उसकी चोंच और पंजे लाल हैं।

उसने तब दूरबीन से बहुत-से ऐसे पक्षी खोज निकाले और जब चुकन्दर

जैसे रंगवाली एक युवती पुआल का अपेक्षाकृत बड़ा बोझ पीठ पर लिये पास से गुजरी तो. उसने पूछा—"क्यों जी, यह कौन पक्षी है?"

प्रश्न सुन कर युवती नीची दृष्टि किए हुए मुस्कराई और हट कर खड़ी हो गई। न बोली, न आगे बढ़ी। परन्तु पीछे-पीछे एक प्रौढ़ा आ रही थी। उसी युवती का सान्ध्य रूप उसे कह सकते हैं। झरने की तरह हँसती हुई बोली—"क्या पूछते हो, बाबू जी?"

"यह कौन पक्षी है?"

"क्यागं चूं। तिब्बती कौवा।"

"तभी चूं-चूं करता है।" गोपाल ने हँसते हुए कहा।

नारी तो हँस ही रही थी। उस हँसी से प्रोत्साहित हो कर गोपाल उससे प्रश्न-पर-प्रश्न करने लगा। वह भूल गया कि उसे वसुधारा जाना है। ज्ञान की प्यास ने उसके इस ज्ञान को मोह के कुहरे से ढक दिया। वह जब जागा तब उसके साथी नीचे पुल तक पहुँच चुके थे।

वह तेजी से आगे बढ़ा, इतनी तेजी से कि उसे भागना पड़ा। उसने उस निरन्तर झूले से झूलते रहने वाले पुल को पार किया। फिर 'माना' गांव की प्राणायाम वाली चढ़ाई चढ़ कर जैसे ही वह सरस्वती नदी के तट वाली बटिया पर आया, वैसे ही बादलों ने गर्जन-तर्जन के साथ आकाश को घेर लिया। अरुण का स्वर्णिम किरण-चाल छिन्न-भिन्न हो गया और ठंडे कुहरे ने पृथ्वी को निगल जाने के लिए सुरसा की भांति मुँह फाड़ना शुरू कर दिया कि तभी उसे एक और नारी दिखाई दी। वही झरने-सी हँसी और गहरी सन्ध्या सी लालिमा। पूछा—"वसुधारा कितनी दूर है?"

"वह सामने है—दो माइल।"

"मार्ग क्या बहुत विकट है?"

"न, न, सीधा है। जिस पर तुम जा रहे हो। बस, बिल्कुल ऐसा।"

"धारा में बहुत ऊँचे से पानी गिरता है?"

नारी हँसी और—"हाँ, पर सब पर नहीं गिरता। जो असली मां-बाप के हैं उन्हीं के मस्तक पर धार गिरती है।"

कह कर वह फिर हँसी और पास के खेत में गायब हो गई।

गोपाल को लगा, जैसे दिशाएं हँस उठी हों। पर यह उसने क्या कहा! उसने भी कहीं ऐसा ही पढ़ा था। बस, उसकी गति अनजाने ही शिथिल पड़ गयी। वह सोचने लगा—"जो असली मां-बाप के हैं, उन्हीं के मस्तक पर धार गिरती है। जो असली मां-बाप के हैं.... जो.....।" कि सहसा उसका ध्यान सुदूरभूत में जा पहुँचा—"द्रोपदी सहित पाण्डव जब युगों पूर्व इसी मार्ग से अलकापुरी गये थे, तब क्या यह धारा उन सब के मस्तक पर न गिरी होगी? क्या वे....? नहीं-नहीं।... यह सब पाखण्ड है, ढोंग है। मूर्खता की चरमसीमा है।" उसने तीव्रता से कहा। और वह दूरबीन से सामने फैले हिमप्रदेश को देखने लगा। आगे इसी मार्ग पर सतो पंथ है। जहां मानिनी द्रोपदी ने प्राण विसर्जित किये थे और अलकापुरी है, जहाँ युधिष्ठिर ने कुत्ते को लेकर धर्मराज की उपाधि पाई थी। अच्छा, तो क्या इसी अल्कापुरी में क्या इन्द्र का साम्राज्य था? क्या नर-नारायण के तप से डर कर इसी इन्द्र ने मेनका को उनका तप भंग करने के लिए भेजा था? तब उस दिन यह भयानक हिम-प्रदेश नारी के नूपुरों की झंकार से किस प्रकार झंकृत हो उठा होगा! प्रकृति का यह गैरिक रूप, उस प्रज्वलित वासना का स्पर्श पाकर किस प्रकार इन्द्र धनुष की आभा-सा चमक उठा होगा! और...और क्या इस धारा की बूंदें उन सबके मस्तकों पर न गिरी होंगी?....

वह जोर से हँसा—क्या वे सब वर्णशंकर थे? उन्हें माता-पिता की चिन्ता नहीं थी? यहां तक कि वे प्रतापी वसु भी, जिनका नाम इस धारा को मिला है, पूछने पर अपने माता-पिता का नाम न बता सके होंगे? और रूप की रानी वह उर्वशी? वह सौंदर्य की प्रतिमा! वहीं कुछ दूर उर्वशी-कुण्ड पर उसका जन्म हुआ था। उसके मस्तक को भी तो इस धारा ने कभी नहीं छुआ होगा।

"अभागिन धारा !" उसने आकण्ठ सहानुभूति से भर कर कहा और वह हंस पड़ा। "यह मनुष्य कितना प्रपंची है ! उफ ! कैसा छकाया है उसने संसार को ! !"

वह तब एक बहुत ही सँकरे मार्ग पर आ गया था। एक ओर विशाल शिला-खण्ड थे। दूसरी ओर अलखनन्दा का अतल। वह ठिठका। क्षण-भर रुक कर उसने उर्वशी की जन्मभूमि को देखा। "वह अनुपम सौंदर्य क्या इसी भयानकता के गर्भ से प्रकट हुआ था ? सुना है वहां सामने भोजपत्र के वन में कस्तूरा रहता है। सुगन्ध और सौन्दर्य दोनों को जन्मभूमि तनुता (नाजुकता) से कितनी दूर है ? पर....पर....हाँ, ठीक तो है ! उसने एकदम सम्भल कर कहा—"जिसे मैं भयानकता कह रहा हूँ, क्यों वही पुरुष के पौरुष की कसौटी नहीं है ? क्या वे सुगन्ध और सौन्दर्य को भोगने के अधिकारी पुरुष नहीं हैं जो प्रकृति की रुद्रता को अपने पौरुष से मधुरता में बदल देते हैं ?"

तब गोपाल मुस्कराया—"तब वसुधारा के जलकण उन पुरुषों का निस्संदेह अभिषेक करते होंगे। क्योंकि पौरुष ही तो किसी के माता-पिता के गुण-अवगुण की कसौटी है।"

अपनी इसी खोज से गोपाल गर्व से भर उठा। पर उसी क्षण पास के खेत से निर्झर सी हँसी फूट पड़ी। देखा—एक युवती है। पर इससे पूर्व कि नेत्रों का सम्मिलन हो, वह बिजली-सी दूर जा चमकी। उस निर्जन में गोपाल को लगा, जैसे उर्वशी हँस रही है। हँसे जा रही है। इधर-उधर, यहां-वहां सब कहीं कैलाश में उसकी यही हँसी व्याप्त है। क्षण भर रुककर वह फिर आगे बढ़ा कि वह फिर ग्रीवा उठाकर खिलखिला पड़ी। गोपाल फिर ठिठका। तब सहसा उसकी दृष्टि उसे खोजते-खोजते खेत की पक्की मेंड़ पर जाकर अटक गई। देखा वहां दूरबीन रखी है। ओः ! विचारों में वह इतना खो गया था कि उसे छोड़ ही जा रहा था ! "तो क्या उसकी इसी भूल पर वह निर्झरणी फूटी थी ?" उसने मुस्कराकर कह दिया—"तुमको बहुत धन्यवाद, निर्झरणी !"

और हृदय में उत्साह लिये वह आगे बढ़ गया। तभी हर्षातिरेक से आनन्द ने पुकारकर कहा—"गोपाल। देखो वह वसुधारा।"

"कहां" गोपाल बोला और तभी देखा—दूर एक शिखर से जल की पतली-सी धार गिर रही है। कभी वह वायु के साथ अठखेलियां करती है, कभी आंखों से ओझल हो जाती है।

प्रथम दर्शन बहुत अच्छा नहीं लगा। कहां न्यागरा और जोग के जल प्रपात और कहां ये क्षुद्र जलकण! क्या यही पुराण-प्रसिद्ध आठ वसुओं की धारा है? क्या यही मनुष्य की वर्णशंकरता का निर्णय करती है?

वह सोच रहा था और दौड़ रहा था। वह अब एक मैदान को पारकर चुका था और सामने का मार्ग नाना रूप-रूपाय शिला-खण्डों से भरा पड़ा था। वह उन पर तेजी से दौड़ने लगा। पर मार्ग का अन्त नहीं आ रहा था। उसने घड़ी देखी। गांव छोड़े एक घंटा हो चुका था। पर दो माइल अभी समाप्त नहीं हो रहे थे। तब उसने एक व्यक्ति को देखा, जो उधर से आ रहा था। पूछा—"वसुधारा कितनी दूर है?"

"दो माइल।" उसे उत्तर मिला।

"अब भी दो माइल दूरी बनी ही रही!" उसके मुंह से निकल गया।

"जी हां। रास्ता जो बहुत विकट है।"

यह स्थिति उसके लिए एक चुनौती थी। गोपाल एक बार झिझका। उसने एक गहरी सांस ली। फिर इधर-उधर देखा। बादल आकाश को घेरकर धरती की ओर बढ़ रहे थे। बस, वह तेजी से दौड़ने लगा। आनन्द ने उसका अनुकरण किया। दूरबीन और कैमरा सब उन्होंने बन्द कर लिये। पर नारी-वर्ग अब भी पीछे था। उन्हें बार-बार रुकना पड़ता था। दूर-दूर तक फैले हुए पत्थरों पर चढ़ते-उतरते उनके पैर दुखने लगे थे और ठण्डा कुहरा जो बराबर बढ़ता आ रहा था, हृदय में धुकधुकी पैदा करने लगा था। आनन्द ने पास आकर कहा—"गोपाल। तुमने एक विचित्र बात सुनी?"

"क्या?"

"वसुधारा के छींटे उसी पर पड़ते हैं जो वर्णशंकर नहीं होता।"

गोपाल तेजी से हँसा। वह बोला—"मैंने भी सुना है। पर यह सब पाखण्ड है, निरा पाखण्ड।"

"सो तो है ही। सो तो है ही।" आनन्द ने कह दिया—"पर मैं सोचता हूँ—मनुष्य का मस्तिष्क क्या-क्या षड़यन्त्र रच डालता है!"

दोनों फिर हँसे। अब वे प्रपात के बिल्कुल पास आ गये थे। एक चढ़ाई और फिर नीचे घाटी से होकर प्रपात के प्रत्यक्ष दर्शन। वह शीघ्रता से ऊपर चढ़ा और फिर नीचे उतरने लगा। अभी-अभी वहां पहाड़ टूट कर सरक गया था। उसी के पद-चिन्हों पर वह संभल-संभलकर पग रख रहा था। कभी-कभी हाथ भी रख लेता था। उस क्षण उसके हृदय में भय भी था, उल्लास भी था। वह किसी भी क्षण गिरकर शिला-खण्डों से टकरा सकता था। पर उसके सामने अब प्रपात बिल्कुल स्पष्ट था। उसने उसके बहते जल का स्पर्श किया। जैसे प्राण सिहर उठे। उसे याद आया कहीं लिखा था—"जो वसुधारा में स्नान करेगा, उसे मुक्ति मिलेगी।"

"निस्संदेह उसे मुक्ति मिल सकती है—जीवन से मुक्ति।" वह फुस-फुसाया और नृत्य करती धारा के पास जाने के लिए पत्थरों पर चढ़ने लगा। "पर मैं मुक्ति नहीं चाहता।"

वह अब वसुधारा के ठीक नीचे आ गया था। उसकी दृष्टि ऊपर को उठी हुई थी। ऊपर, बहुत ऊपर से, जल की एक धारा उछल-उछल कर नृत्य करती हुई नीचे चली आ रही थी। वायु रह-रहकर उसे छेड़ देती और तब वह हँसती-हँसती उसके पीछे दौड़ पड़ती। गोपाल मंत्र-मुग्ध-सा यौवन की उस क्रीड़ा को देखता रहा। फिर न जाने क्या हुआ? जैसे किसीने फुसफुसा कर उसके कान में कह दिया—"तुम वर्णशंकर हो।"

"क्या?"

"हां। तुम्हारे मस्तक पर वसुधारा की फुहार नहीं पड़ रही है।"

गोपाल के हाथ उठे। उसने मस्तक को सहलाया। फिर सहसा सामने के उन शिला-खण्डों को देखा, जो सुचिक्कण, धूमिल हिम को मस्तक पर

धारण किये अल्हड़ता से एक दूसरे का सहारा लिये जल-धारा के बीच में लेटे हुए थे। उन पर चढ़ना कठिन ही नहीं, असाध्य था। उसके सामने दीवार पर चढ़ना मानो मखमल पर चलना था। परन्तु......

गोपाल मुड़ा। उसने आनन्द को देखा—सुडौल शरीर, आजानुबाहु, उन्नत ललाट, विशाल वक्षस्थल, सुदृढ़ पग....मस्तिष्क में तूफान उठा—

आनन्द बड़ी सरलता से इन पत्थरों पर चढ़ सकता है। ....वह चढ़ेगा—धारा उसके मस्तक का अभिषेक करेगी....और वह.... वह....!"

गोपाल कांपा। जीवन में पहली बार उसे अपनी लघुता का अनुभव हुआ। वसुधारा उसके समूचे अस्तित्व को चुनौती देती जान पड़ी। उड़ती फुहारों के मिस मानो उसने अट्टहास करते हुए कहा—"तुम वर्णशंकर! ... गोपाल तुम वर्णशंकर !!...हा...हा...हा...तुम वर्णशंकर... वर्णशंकर!!!"

जैसे भूचाल आ गया हो। धारा डोल उठी। गोपाल ने यंत्रवत भयंकर गति से पत्थरों पर कूदना शुरू कर दिया। कुछ ही देर में वह वहां पहुंच गया, जहां धारा सीधी गिरकर एक बड़े शिलाखण्ड से टकराती थी। और फिर सहस्रों खण्डों से होकर वायु के साथ-साथ चारों ओर बिखर जाती थी। तब ठण्डे कुहरे की असंख्य बिन्दुओं ने उसे तर कर दिया। उसका अन्त आनन्द से भींग गया। वह चिल्ला उठा—"मैं वर्णशंकर नहीं हूं! मैं वर्णशंकर नहीं हूं!"

उस आनन्द में वह कई बार चढ़ा और नीचे उतरा। फिर जसे कुछ याद आया। शीघ्रता से दूर बैठे आनन्द के पास जाकर वह बोला—

"आनन्द! क्या तुम वसुधारा के पास नहीं जाओगे?"

आनन्द ने शान्ति से जवाब दिया—"नहीं।"

"नहीं....!"

"हां गोपाल! हम तुम क्या इतने मूर्ख हैं कि इस क्षुद्र जलधारा से अपने

माता-पिता के पाप-पुण्य का निर्णय करवाएंगे । ऊँहुँ !....तुम ठीक कहते थे—यह सब पाखण्ड है, निरा पाखण्ड।"

और फिर टिफनदान खोलते हुए कहा—"आओ—भोजन कर लो। ठण्डा कुहरा पास आ गया है। कुछ ही क्षण में बर्फ गिरने लगेगी।"

गोपाल तब था भी और नहीं भी। उसका उल्लास तब जैसे उन शिला-खण्डों से टकरा-टकराकर चीत्कार कर रहा था। उसकी ज्ञानार्जन-क्षुधा जल-विन्दुओं के साथ उड़कर उसकी खिल्ली उड़ा रही थी !

अर्थों के आँसू

[मोहनसिंह सेंगर]

जब सब लोग चले गये, तो प्रतिभा ने दबे पांव मां के कमरे में प्रवेश किया और इधर-उधर देखकर धीरे से बोली—"माँ आखिर मेरी शादी को लेकर तुम लोग इतने परेशान क्यों हो ? क्या सचमुच मैं इतनी भारी हो गई हूँ तुम सबके लिए ? अगर ऐसा ही है तो कुठौर फेंकने से कहीं ज्यादा अच्छा तो यही है कि मुझे किसी नदी कुएँ में ही ढकेल दो, पाप कटेगा।"

मां ने अन्यमनस्क भाव से पर एक फीकी मुस्कराहट के साथ, प्रतिभा को खींचकर अपने गले से लगा लिया और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोली—"तू तो सचमुच बड़ी भोली है, बेटी। अरे, लड़कियां तो पराया धन हैं ही। बड़ी होने के बाद भला उन्हें कोई अपने पास रखता है ?"

"हां, तो मैं कब कहती हूँ कि तुम मुझे अपने पास ही रखो।" रूंधे हुए गले से प्रतिभा ने कहा—"कह जो रही हूँ कि किसी नदी कुएँ में धक्का न दे दो, सब आफत मिट जायेगी।"

इस बार मां ने प्रतिभा को अपने गले से हटाकर सामने खड़ा किया और उसकी आंखों में आंखें डालकर बोली—"पागल मत बन, प्रतिभा। मैंने कभी तेरी इच्छा के खिलाफ कुछ काम किया या तुझसे कभी कुछ करवाया है ? क्या कभी भी तेरे साथ मैंने कोई दुर्व्यवहार किया है ? फिर तेरी इस तानेजनी और इन आंसुओं का मतलब ?"

एक सिसकी भरकर प्रतिभा ने आंखें झुका लीं और भर्राई हुई आवाज में बोली—"मतलब तुम सब जानती हो मां।"

तनिक झल्लाकर मां ने कहा—"भई तुझसे तो पेश आना भी मुश्किल है। तुझे मालूम नहीं, तेरे पिताजी ने कितने दिनों से खाने-पीने और सोने-अ.राम करने का खयाल छोड़, रात-दिन एक कर तेरे लिए इतना अच्छा घर-वर ढूंढ़ा है। क्या इसे तू कुठौर ही समझती है?"

"मैं कुछ नहीं समझती"—तनिक आवेश में आकर प्रतिभा ने कहा—"केवल यह समझती हूँ कि मैं अभी शादी नहीं करना चाहती। मैं अभी कुछ दिन और पढ़ना चाहती हूँ।"

"शादी नहीं करना चाहती! आगे पढ़ना चाहती हूँ!!" माँ ने जरा ताने के साथ कहा—"यह कहना बड़ा आसान है, बेटीजी। पर क्या तुम्हें आटे-दाल का भाव मालूम है? क्या तुझे मालूम है कि इस महंगाई के जमाने में घर—गृहस्थी चलाना कितना कठिन हो गया है?"

"तो साफ-साफ यों कहो कि तुम मेरी आगे की पढ़ाई का खर्च नहीं देना चाहतीं।"—प्रतिभा ने तीखे स्वर में कहा।

प्रतिभा, तुम पढ़ी-लिखी हो, बेटी। मेरे मुंह से क्या-क्या कहलवा-ओगी? तुम जानती हो कि तुम्हारे दोनों भाइयों का दूध बन्द कर दिया गया है। तुम्हारी शादी के लिए तुम्हारे पिताजी ने जो २-३ हजार रुपया बैंक में जमा किया था, महंगाई ने उसे भी पचा लिया। इन दिनों में कभी गौर से उनका चेहरा देखा है तुमने? चिंता और उदासी की झुर्रियां क्या कभी तुम्हें नहीं दिखाई दीं उनके चेहरे पर? हाय भगवान्!

'छि: छि:'—कहते हुए प्रतिभा के पिता ने कमरे में प्रवेश कर कहा—"यह क्या झगड़ा मोल ले बैठीं तुम माँ-बेटी। मेरे चेहरे की झुर्रियों से और प्रतिभा से भला क्या मतलब? क्या आदमी कभी बूढ़ा नहीं होता?" और फिर हँसकर बोले—"प्रतिभा की मां, तुम्हारी तरह मैं भला हमेशा जवान थोड़े ही बना रहूँगा!"

प्रतिभा की मां जरा लजा गई। प्रतिभा ने धोती के छोर से आंसू पोंछे और कमरे से बाहर जाने लगी; पिता ने द्वार की ओर बढ़कर प्रतिभा का रास्ता रोकते हुए कहा—"जरा रुको, प्रतिभा। मैं तुम्हीं से कुछ बात करने

आया हूँ। तुम मन खराब न करो बेटी, मैंने गौरीशंकर और उसके बड़े भाई से खूब जोर देकर और खोलकर कह दिया है कि वे तुम्हारी आगे पढ़ने की इच्छा पूरी करेंगे और इस दिशा में कोई अड़चन पैदा नहीं करेंगे। बोलो अब तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं ?"

प्रतिभा कुछ नहीं बोली। उसकी आंखें नीचे ही झुकी रहीं। पिता ने फिर कहना शुरू किया—"सिर्फ खर्चे का ही सवाल नहीं है, बेटी। तुम अब सयानी हो गई हो। लोग पूछते हैं कि अभी तक प्रतिभा की शादी क्यों नहीं की? पता नहीं, इन्हें दूसरों की शादी में इतनी दिलचस्पी क्यों है ?"

"अच्छी ही तो बात है"—प्रतिभा ने धीमी आवाज में कहा—"आप, लोगों को खुश-संतुष्ट करके, अपनी मान प्रतिष्ठा की रक्षा कीजिए। इसमें भला मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ?" यह कहकर प्रतिभा कमरे से बाहर चली गई।

पिता ने कुछ चिंतित-सी मुद्रा में प्रतिभा की मां की ओर देखा और निराश स्वर में बोले—"हायरे भाग्य ! अपनी ही सन्तान के मुंह से क्या ऐसी बातें सुनना ही हमारे भाग्य में बदा था ?"

"तुम अपना मन खराब मत करो"—प्रतिभा की मां ने आश्वस्त स्वर में कहा—"आजकल का जमाना ही ऐसा है। पता नहीं पढ़-लिख कर ये लड़कियां क्या करेंगी ?"

प्रतिभा के पिता ने एक गहरी ठण्डी साँस ली और धीरे-धीरे कमरे से बाहर चले गए।

(२)

"बहू क्या कहती या चाहती है, इससे मुझे कोई सरोकार नहीं"—गौरीशंकर के बड़े भाई ने कहा—"पर मैं यह पूछता हूं कि तेरे भी तो अक्ल है, तेरा मन क्या कहता है ?"

"भैया"—गौरीशंकर ने नम्रतापूर्वक कहा—"होगा तो वही, जो आप और माता जी आज्ञा देंगे; पर मैं समझता हूं कि अगर उसे पढ़ने-लिखने की सुविधा दी जाय, तो इसमें हर्ज ही क्या है ?"

"हर्ज ही क्या है ?"—आंखें मटकाकर बड़े भाई ने कहा—"नई-नई बहू मिली है, इसीसे तू उस पर लट्टू है। पर कान खोलकर सुन ले—अगर तूने उसे दबाकर नहीं रखा, ज्यादा पढ़ाया-लिखाया और आजादी दी, तो याद रख, एक दिन तुझे पछताना पड़ेगा—और खानदान के नाम पर जो बट्टा लगेगा, वह अलग से !"

गौरीशंकर अभी नई उम्र और कच्चे ज्ञान का युवक था बड़े भाई की चेतावनी की गहराई को शायद भलीभांति समझ तो नहीं पाया, पर इतना उसे जरूर महसूस हुआ कि उसका कुछ अर्थ जरूरत है। हत-प्रभ-सा वह चुप-चाप वहां से अपने कमरे की ओर चला।

कमरे से बाहर पांव रखते ही उसने देखा कि प्रतिभा चौखट के सहारे खड़ी सारी बातें सुन रही थी। उसके बाहर आते ही बिना कुछ बोले ही वह भी उसके आगे आगे कमरे की ओर चल पड़ी।

कमरे में पहुँचकर प्रतिभा दाहिनी ओर की दीवार का सहारा लेकर खड़ी हो गई और शून्य दृष्टि से छत की ओर अपलक निहारने लगी। गौरी-शंकर ने पास आकर कहा—"तुमने भाई साहब का फैसला सुन लिया।"

"सुन लिया"—उसी प्रकार छत की ओर देखते हुए प्रतिभा ने कहा।

गौरीशंकर चुप हो गया। क्या कहे, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। प्रतिभा ने फिर कहना शुरू किया—"मां के मुंह से, पिताजी के मुंह से, जेठ जी के मुंह से; और शायद तुम्हारे मुंह से अभी सुनना बाकी है—एक ही बात निकलती है : लड़की को ज्यादा पढ़ाना अच्छा नहीं ? पढ़-लिखकर वह हाथ से निकल जायगी !! उफ, कितने संकीर्ण और अदूरदर्शी हो तुम लोग ? जो स्वयं सुशिक्षित नहीं, जिनके अपने मानस और चरित्र का विकास नहीं हुआ, वे इसके सिवा भला सोच ही क्या सकते हैं।" और फिर पास खड़े गौरीशंकर की ओर मुखातिब होकर प्रतिभा ने जरा आवेश के स्वर में कहा—"मैं जानती हूँ, तुम लोग क्यों मुझे आगे पढ़ने नहीं देना चाहते। पैसे का प्रश्न उतना नहीं है, जितना तुम्हारी सड़ी-गली मान्यताओं, कुसंस्कारों और अन्धपरम्पराओं का। तुम सोचते होगे कि घर की चहारदीवारी में बंद

स्त्री पांव की अच्छी जूती, आज्ञाकारी बांदी और उन झूठे आदर्शों की रक्षा करनेवाली निरीह बहू बनी रहेगी, जो आज नारी-स्वातंत्र्य के मार्ग में सब से बड़ी बाधा हैं। पर मिस्टर गौरीशंकर, प्रतिभा उस मिट्टी की बनी नहीं है, जो इन बाधाओं से ही रुक जाय।"

प्रतिभा के दीप्त नेत्रों और उग्र मुद्रा को देख तथा उसका दृढ़ स्थिर स्वर सुन जैसे गौरीशंकर को अपनी आँख-कान पर विश्वास नहीं हो रहा था। विनय और संकोच की लाजवन्ती सी प्रतिमूर्ति प्रतिभा के मुंह से आज वह यह सब क्या सुन रहा था? प्रतिभा क्या बदल गई थी, या यही उसका असली रूप है, जो अभी तक परिस्थिति-वश ढंका-मुंदा था। अभी वह यह सब सोच ही रहा था कि प्रतिभा ने फिर कहना शुरू किया—"क्यों आप भी किसी सोच में पड़ गए क्या? मां और भाई के स्नेह ने आपके मन-मस्तिष्क पर गुलामी और परावलंबन का बहुत गहरा रंग चढ़ा दिया मालूम होता है। उससे अलग आपका कोई अस्तित्व है, यह शायद आप सोच ही नहीं सकते। फिर उनसे अलग होकर अपने पांवों पर खड़े होने की बात तो अभी बहुत दूर की है! मां और भाई की पराधीनता ने आपके आत्मविश्वास और स्वावलम्बन की प्रेरणा को जैसे मार ही दिया है। पर मैं उम्र-भर अपमान और पराधीनता के टुकड़ों पर पलने और आंसू बहाने यहां नहीं आई हूँ। पशु की तरह पेट भरने से कुछ परे भी जीवन का अर्थ है। देश और समाज के प्रति भी तो हमारा कुछ कर्त्तव्य है।"

गौरीशंकर आंखें फाड़कर प्रतिभा की ओर एकटक देख और यह सब सुन रहा था। उसे ऐसा लग रहा था मानो कोई सुधारवादी फिल्म देख रहा हो। उसके मुंह से केवल एक ही बात निकली—"तो तुम मेरी और भाई साहब की इच्छा के विरुद्ध चलोगी?"

"निस्संदेह"—सहज भाव से प्रतिभा ने कहा—"यह कोई बुरा काम तो है नहीं। फिर मैं तभी ऐसा करूँगी जब कि मैं अपना खर्च भी निकाल सकूं। अगर मुझे आगे पढ़ना ही है, तो मैं व्यर्थ आप लोगों पर उसका बोझ क्यों डालूं?"

"इसका मतलब हुआ कि तुम कहीं कुछ काम भी करोगी।"

"हां, मतलब तो यह साफ है।"

"तो यह बात है।"—कहते हुए गौरीशंकर कमरे में इधर-उधर टहलने लगा। प्रतिभा कुतूहल-निश्चित मुद्रा से उसके चेहरे के भावों को पढ़ने की चेष्टा करने लगी।

(३)

उस दिन जब प्रतिभा लौटी, तो गौरीशंकर आ चुका था। कपड़े उतार कर वह पंखे के नीचे सुस्ता रहा था। मेज पर किताबें रख प्रतिभा जल्दी से उसके पास आ गयी और सहज भाव से बोली—"आज मुझे आने में देर हो गई। बुरा तो नहीं मान गये?"

"मैं बुरा मानने वाला होता ही कौन हूँ?"—गौरीशंकर ने उदासीनता दिखाते हुए कहा—"भला अब हमारी किसे परवाह है?"

"लो, फिर लगे न फालतू बातें करने। आज प्रोफेसर साहब ने फिर वही समानाधिकार का मसला छेड़ दिया। इस सम्बन्ध में बातें करते हुए मुझे तो समय का ध्यान ही नहीं रहा। कितने अच्छे आदमी हैं वे! उनसे बातें करने में समय का ख्याल ही नहीं रहता।"

क्यों प्रतिभा, प्रोफेसर तुमको बहुत पसन्द हैं—याने बहुत अच्छे लगते हैं?

हां, अच्छे लगने लायक आदमी ही हैं वे।

मुझ से भी अधिक अच्छे लगते हैं तुम्हें वे?

गौरीशंकर के पास आ और उसकी आंखों में घूरते हुए प्रतिभा ने जरा कड़े स्वर में पूछा—'क्या मतलब है तुम्हारा इस सवाल से? तुम मेरी परीक्षा लेना चाहते हो या अपने मन का चोर बाहर निकाल रहे हो? छि: कितने संकीर्ण हृदय हो तुम?

गौरीशंकर कुछ सकपका गया। फिर तनिक गम्भीर होकर बोला—"प्रतिभा, तुम्हारे मुंह से रोज-रोज प्रोफेसर की प्रशंसा सुनते-सुनते मेरे तो कान पक गये। अगर प्रोफेसर तुम्हें बहुत पसन्द है, तो......"

'खबरदार जो मुंह से कोई बेजा बात निकाली तो'—बीच में ही टोक कर प्रतिभा ने दर्प पूर्वक कहा—"तुम अपनी जगह हो, प्रोफेसर अपनी। मेरा तुमसे जो सम्बन्ध हैं और मेरे मन में तुम्हारे लिए जो स्थान है, उसकी महत्ता और पवित्रता से मैं बखूबी वाकिफ हूँ। पर प्रोफेसर मेरे आदर और श्रद्धा के प्रतीक हैं। आज के युग में ऐसे सच्चे सत्पुरुष कहां मिलते हैं? उनके विशाल उज्ज्वल व्यक्तित्व की छाया में मानो शत-सहस्र वट-वृक्षों की-सी शीतलता और शान्ति मिलती है।"

'बस, बस, यह बकवास बन्द करो'—गौरीशंकर ने तुनककर कहा—"शर्म नहीं आती तुम्हें पति के सामने पर-पुरुष की इतनी प्रशंसा करते? क्या इतने पर भी तुम अस्लियत पर पर्दा डाल सकती हो?"

"नहीं, शर्म की इसमें बात नहीं, मैं उन मूढ़ा अज्ञ स्त्रियों में से नहीं हूं, जिनके लिए अकेला पति ही परमेश्वर है और शेष सब पत्थर की निर्जीव मूर्तियां। तुम्हारा और मेरा एक सांसारिक सम्बन्ध है, जो मन-मस्तिष्क से अधिक शरीर का है। पर मेरे मन और मस्तिष्क में आदर और श्रद्धा का प्रतीक बनी ऐसी कई मूर्त्तियां हैं जो मेरी आराध्य हैं। प्रोफेसर भी उनमें से एक हैं।"

तो तुम उन्हीं के पास क्यों नहीं चली जातीं!—"झल्लाकर कुर्सी पर से उठते हुए गौरीशंकर ने कहा—"मेरी छाती पर मूंग दलने और रोज उसकी तारीफों के पुल बांधकर मेरा खून जलाने में तुम्हें क्या मजा आता है?"

प्रतिभा सन्न रह गयी। उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। उसे अपनी आंखों और कानोंपर जैसे विश्वास नहीं हो रहा था। चित्र-खचित उसकी आंखें गौरीशंकर की ओर खुली की खुली रह गईं। पुरुष का मन—नहीं, नहीं पति का मन—कितना ओछा और संशयालु हो सकता है, उसे आज मानो नग्न रूप में दिखाई दिया। पर उसके जी को जलाना ही गौरीशंकर का उद्देश्य न था, उस पर नमक डालना भी अभीष्ट था। सो दरवाजे के पास रुककर गौरीशंकर ने कहा—"आहा, क्या त्रिया-चरित्र की माया सीखी है तुमने? ऐसे देख रही हो, मानो तुम्हें कुछ पता ही नहीं! मैं

कोई मिट्टी का माधव नहीं हूं, प्रतिभा। तुम मुझे जितना बुद्धू और भोला समझती हो, मैं उतना तो शायद नहीं हूं। बहुत दिनों से पास-पड़ौस में तुम्हारे इस नये 'रोमांस' की चर्चा है। मां और भाई साहब तो इतने परेशान हैं कि मुझसे बात तक करना छोड़ दिया है। ज्यादा पढ़-लिखकर तुम यह करोगी, इसका मुझे स्वप्न में भी गुमान न था। आज हम लोग किसी के सामने आंख उठाकर देख भी नहीं सकते?"

प्रतिभा जैसे नींद से जागी। अश्वस्त स्वर में उसने कहा—"ओह, तो बड़े दिनों से अपने दिल में जमा हुआ गुबार निकाल रहे हो आज। पहले तो तुमने कभी ऐसी आशंका प्रकट नहीं की? फिर इतने दिन तक साथ रहकर भी तुमने मुझे नहीं पहचाना और मुझसे अधिक उन लोगों पर विश्वास किया, जो नारी-स्वातंत्र्य को फूटी आँखों भी देख नहीं सकते; जिन्हें दूसरों को बदनाम करने में ही मजा आता है। पर खैर, जब बात यहां तक पहुँच चुकी है तो तुम्हें जिस तरह भी विश्वास हो, इस बात के सच-झूठ का निर्णय कर लो। पर यह पहले बता दो कि इस बात के सच निकलने पर तो तुम जो चाहो, मुझे सजा दे सकते हो; लेकिन अगर यह बात झूठ, निराधार और कपोल-कल्पित साबित हुई, तो तुम क्या प्रायश्चित करोगे? जानते हो, यह झूठा लांछन लगाकर तुमने मेरे मन में अपना रहा-सहा स्थान भी खो दिया है। पति तो क्या, इन्सान के रूप में भी तुम मेरी नजरों से गिर चुके हो। बुजदिल, नीच कहीं का।"

"जबान बन्द कर, प्रतिभा"—गौरीशंकर ने डपट के स्वर में कहा—"नहीं तो अच्छा न होगा। हर बात की एक सीमा होती है। मैं तुझे इससे अधिक अपना अपमान नहीं करने दूंगा।"

"अपमान!"—मुंह बिराकर प्रतिभा ने कहा—"तुम-जैसों का कोई आत्म-सम्मान है, जो अपमान होगा। नीच, कुत्ते कहीं के!"

"देख, जबान सम्भाल. . . ."—दांत पीसकर गौरीशंकर चिल्लाया।

(४)

प्रोफेसर ज्योतिरिन्द्र वसु एकाकी जीव थे। जिस प्रकार किसी विशाल

पर्वत को किसी एक ओर से देख कर उसके सम्पूर्ण रूप का अन्दाज लगाना कठिन है उसी प्रकार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की जानकारी भी कठिन थी। अपने बारे में वे कभी किसी से कुछ कहते ही न थे। विवाह उन्होंने क्यों नहीं किया और विश्वविद्यालय से मिलने वाला सारा वेतन निर्धन छात्र-छात्राओं में बांट कर वे अपनी गुजर-बसर कैसे करते थे, उस बारे में लाख पूछने पर भी उन्होंने कभी कुछ नहीं बताया। पर नीरस से बिलकुल नहीं थे और जरा-सा उनके हृदय में प्रवेश पा जाने पर तो न सिर्फ ज्ञान का अपूर्व खजाना ही हाथ लग जाता था, बल्कि एक ऐसे उज्ज्वल व्यक्तित्व के दर्शन भी होते थे, जो आज के मानव-समाज में दुर्लभ ही समझिए। उनके व्यक्तित्व के पारस-स्पर्श से न जाने कितने व्यक्ति सुवर्ण बन चुके थे।

संकट के समय इन्हीं के वरदाहस्त ने प्रतिभा की रक्षा और सहायता की। प्रोफेसर के रूप में उसे गुरु ही नहीं, एक अगाध स्नेहशील पिता तो मिला और वह बिलकुल भूल ही गयी कि प्रोफेसर उसके असली पिता नहीं हैं। प्रोफेसर ने भी प्रतिभा में मानो साक्षात् प्रतिभा के दर्शन किये। परिस्थितियां, बाधाएं, अभाव आदि जैसे उसे रोक ही नहीं पाते थे। कभी-कभी प्रतिभा के मुंह से नारी के पीड़न-शोषण की बातें सुन कर प्रोफेसर रोने लगते थे। प्रतिभा से उन्होंने प्रतिज्ञा करवा ली थी कि पढ़-लिख कर वह केवल जीविकोपार्जन ही नहीं, बल्कि अपनी पीड़ित-ताड़ित बहनों के उद्धार के लिए भी कुछ करेगी। इसीलिए पढ़ाई के बाद और कभी-कभी पहले या बीच में भी नारी-पीड़न के संवादों की चर्चा दोनों बड़ी हार्दिक भावना के साथ किया करते थे।

आज प्रोफेसर बार-बार घड़ी देख कर मन-ही-मन कह रहे थे कि पता नहीं, प्रतिभा अभी तक क्यों नहीं आई। अधीर हो कर वे कमरे में टहलने लगे। फिर खिड़की से देखा, तो गौरीशंकर के मकान के आगे कुछ लोग जमा देखे। उनकी कुछ समझ में आया। दो-एक मिनट कुछ सोचने के बाद वे चप्पल पहन कर उस ओर चल दिये।

घर के बाहर गौरीशंकर को दौड़-धूप करते देख वे और शशोपंज में

पड़े। उसके पास जा कर वे कुछ पूछना ही चाह रहे थे कि गौरीशंकर ने आंखों में आंसू भर कर अभिनय के पूरे कौशल के साथ कहा—"प्रोफेसर साहब, मैं तो लुट गया। मेरा सर्वस्व छिन गया। किसी तरह मुझे सहारा दीजिए। बल दीजिए कि मैं इस आघात को सहन कर सकूं।"

"पर माजरा क्या है? मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है।"—प्रोफेसर ने कहा।

"ओह, आपको सूचना भिजवाना तो भूल ही गया था। कल रात को हृदय की गति बन्द हो जाने से अचानक प्रतिभा का देहावसान हो गया। मेरी तो जान ही निकल गयी, प्रोफेसर साहब, अब मैं क्या करूं? मेरा क्या होगा?"

प्रोफेसर को जैसे काठ मार गया। एक क्षण से सन्न रह गये। फिर गौरीशंकर की ओर देख कर पूछा—"हार्टफेल। आपको ठीक मालूम है हार्टफेल ही हुआ है।"

"जी हां, जी हां"—कह कर गौरीशंकर ने इधर-उधर देखा और फिर विनीत स्वर में बोला—"आप से फिर बातें करूंगा। अब जरा अर्थी को उठवाने की जल्दी करनी है, वर्ना फिर धूप चढ़ आयेगी।"

प्रोफसर कुछ कहे, इससे पहले ही गौरीशंकर उन्हें आशंकाओं और दुश्चिन्ताओं के भंवर में छोड़ कर घर के भीतर चला गया।

थोड़ी दर बाद अर्थी उठाई गयी और चार आदमियों के कन्धों पर उसे श्मशान की ओर ले जाया जाने लगा। प्रोफेसर ने कन्धा देना चाहा, पर उनके दुर्बल स्वास्थ्य को देख कर उनसे वैसा न करने का अनुरोध किया गया। वे मान गये और चुपचाप अर्थी से कुछ कदम पीछे उसके साथ-साथ हो लिये।

कुछ तो अपने स्वभाव के कारण और कुछ गर्मी के कारण प्रोफेसर नीचे जमीन की ओर ही देखते हुए चल रहे थे। एक जगह उन्हें सड़क पर खून की एक बूंद दिखाई दी। परन्तु इस समय उसके बारे में सोचने की उनकी मनोदशा कहां थी? पर शीघ्र ही दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी, फिर पांचवीं...

इस प्रकार खून की बूंदों की एक कतार-सी दिखाई दी। एक क्षण के लिए प्रोफेसर किसी सोच में पड़े, फिर न जाने क्या सोच कर आस-पास के लोगों को हटा कर वे अर्थी के बिल्कुल निकट पहुंच गये और गर्दन झुका कर उसके निचले भाग को देखने लगे। बीच का हिस्सा कुछ अधिक नीचे झुका-सा दिखाई पड़ रहा था, उस स्थान से कोरे कपड़े में से छन-छन कर चन्द लगनहों के अन्तर से खून की बूंदे टपक रही थीं। प्रोफेसर की आंखों के आगे अंधेरा छा गया और वे वहीं गिरते-गिरते बचे। उनके पांव लड़खड़ाते देख कर एक व्यक्ति ने कहा—"आपकी तबियत ठीक नहीं है प्रोफेसर साहब, आप श्मशान चलने की तकलीफ न करें। चलिए, आपको घर पहुंचा देते हैं।"

उस आदमी की सहायता से प्रोफेसर आये और बैठक में रखे सोफे पर लंबे पड़ रहे। पता नहीं कब तक वे उस अवस्था में वहां पड़े रहे।

× × ×

दूसरे दिन सुबह भंगी ने आ कर बताया कि प्रतिभा की हत्या करने के अभियोग में गौरीशंकर, उसका बड़ा भाई और मां गिरफ्तार कर लिये गये हैं। लाश डाक्टरी परीक्षा के लिए भेज गयी है। सुना है कि लाश की पसली की दोनों हड्डियां टूटी हुई हैं।

इकलाई

[चन्द्रकिरण सौनरेक्सा]

बात अब से दस बरस पहले की है, पर सुनिया के मन पर तो वैसी ही उजली-उजली फैली है मानो कल ही वह घटना हुई हो। जैसे कल ही तो विसेसर ने उसे वह सुनहरे फूलों वाली इकलाई ला कर पहनाई हो। साड़ी तो वह कई बरस हुए फट गयी। बहुत सम्हाल कर पहनने पर भी इकलाई फट ही तो गयी। जहां तक पैबन्द लग सकते थे और सिलाई गुंथाई हो सकती थी, गुंथाई करने में सुनिया ने कोर-कसर नहीं रखी, पर कपड़ा तो आखिर कपड़ा ही है। फिर जब इस लड़ाई के और उसके बाद के इतने सालों में ब्याह के जोड़े के अतिरिक्त वही एकमात्र धराऊ कपड़ा था, जो तीज-त्योहार, नाते-रिश्ते में पहन कर सुनिया ने काम चलाया। तो आखिर एक दिन तो उसे तार-तार होना ही था। हां, उसकी यादगार स्वरूप उसकी किनारी को उतार कर उसने उसे अपने पुराने लकड़ी के बक्स में रख लिया है कि शायद कभी उसे मलमल नाम की दुर्लभ वस्तु पांच क्या साढ़े चार गज भी मिल गयी तो वह उस पर ही उस किनारी को एक बार और टांक लेगी। पर मलमल तो क्या बाजार में गाढ़ा गजी तक ऐसे नदारत हैं जैसे दुकानदार अब अतलस, कमख्वाब, सिल्क और साटन के अतिरिक्त और कुछ बेचना भूल ही गये हों। उसके देखते सुनते इन सालों के बीच कई बार सुनाई हुई कि कपड़े पर कन्ट्रोल हो गया है। अब सब को कन्ट्रोल की दूकान पर से उसकी जरूरत के माफिक कपड़ा मिलेगा। और कन्ट्रोल हुआ भी। पर सुनिया के यहां तो कभी ढंग का कपड़ा आया नहीं। एक तो इस मंहगाई के मारे गांठ में कभी चार पैसे सुभीते से रहते ही नहीं और जैसे-तैसे पैसे भी जुटाओ तो उस कन्ट्रोल की दूकान पर

लाइन में कई रोज खड़े हो कर सौ-सौ धक्के खा कर जितना कपड़ा मिलता था, उसमें इकलाई तो कभी मिली ही नहीं। छोटे पने की मोटी जनानी धोती जो कभी मिली भी, तो घर में तीन स्त्रियों के बीच वह धोती, ऊंट के मुंह में जीरे की भांति, छीन-झपट में ही चली जाती।

...और सुनिया तब उलट-पलट कर वही दस बरस पुरानी इकलाई वाली घटना को दोहरा लेती। उसका गौना हुए दो बरस हुए थे तब बिरादरी की रोटी देने मैं उस सस्ती के जमाने सभी तीन रुपया कर्ज हो गया था बिसेसर पर। मौसी की हंसली भी गिरवी पड़ गयी थी। सो दो बरसों में तन पेट से बचा कर वह कर्जा जब उतर गया, तो बिसेसर सुनिया के लिए पहली बार कुछ कपड़ा लेने बाजार गया।

लौटा तो दिये जल चुके थे। सुनिया रोटी बना रही थी। विधवा बूढ़ी मौसी और बुआ बाहर के छप्पर में बैठी किसी की नयी ब्याही बहू के गुण-दोषों की मीमांसा में जुटी हुई थीं।

बिसेसर ने वगल का वण्डल खटोले पर रख दिया और बीड़ी का अन्तिम कश खींचा और उसे फेंक कर अन्दर को मुंह कर के बोला—"तनिक एक लोटा जल दे जाओ बड़ी पियास लगी है।"

सुनिया घूंघट काढ़े आकर कटोरे में चार बड़े बतासे और लोटा भर पानी ले आई। बतासे उसी नयी बहू के घर से आये थे। मौसी ने इतने में बंडल खोल डाला था। धुंधली टूटी चिमनी वाली लालटेन की रोशनी में भी उस बंडल में लिपटी साड़ी की किनारी देख कर मौसी का मुंह खुला रह गया आंखों पर विश्वास न आया, तो हाथों से टटोल कर उस साड़ी के मुलायम कपड़े पर हाथ फेरने लगी।

बिसेसर तनिक मुसकराया, फिर बोला—"कैसी लगी धोती मौसी? बाजार भर छान कर लाया हूँ।"

"कितने की है?" बुआ ने भी उजाले में किनारी परखते हुए पूछा।

"तुम्हीं बताओ कितने की होगी?" बिसेसर ने तनिक गर्व से कहा। मौसी चिढ़ गयी।

तिनक कर बोली—"न बाप दादों के राज में और न खसम के राज में कभी ऐसी साड़ी पहनी। बाप रे, कैसा महीन तार है इसका। मुट्ठी में दबा लो। दाम क्या बतावें। होगी यही तीन-एक रुपये की। जासती चाहे हो, कम की तो है नहीं।"

"ढ़ाई रुपये दो, पैसे की।" बिसेसर ने उत्तर दिया, लाला तो पौने तीन से कम करता ही न था, पर आखिर हम भी मजूर हैं तो क्या बड़े-बड़ों से काम रखते हैं। सैकड़ों बार लाला का माल टेसन से ढो कर लाया हूँ। साढ़े तीन आने छुड़ा ही तो लिये। लाला भी बोला, ले जा बेटा, तुम रोज के हमारे आदमी हो एक साड़ी में चार आने का घाटा ही सही, किसी और भागवान से पूरा हो जायगा।"

"ढाई रुपये।" मौसी सन्न रह गई। भला नित रोज पहनने की साड़ी ढ़ाई ढ़ाई रुपये की आने लगी, तब तो सुनिया रह ली इस घर में। आठ आने गज तो जापानी रेशम मिलता है। तीन रुपये में तो व्याह का लहंगा बन जाय। क्षुब्ध स्वर में बोली—

"मैं कहती हूं बिस्सू तेरी अक्ल को क्या हो गया है? ढ़ाई रुपये में तो काली किनारे की तीन मोटी धोती आ जाती जो दो वर्ष भी न फटती। भला, इतना बारीक कपड़ा क्या हम मजूरिनों की बहू बेटियों के पहनने की चीज है? अरे बहू को अपनी अमीरी ही दिखानी थी, तो दस रुपये की नई चाल की पाजेबे बनवा देता। बहुत धन जमा कर लिया था तो मुझे भी एक जोड़ी बनवा दे। भला कपड़े में इतना पैसा फेंकना......"

मौसी के जी की जलन का मजा लेकर बिसेसर जरा हंस कर बोला। "तू भी मौसी कैसी बातें करती है। अरे क्या गहने गढ़ाने को दस बीस न हों तो अच्छा कपड़ा भी न पहिने। भगवान चाहे तो दो-तीन महीने में पायजेब भी बनवा दूंगा। अब जब कपड़ा लेने ही गया था, तो मुझसे तो रद्दी चीज ली नहीं जाती। वैसे तो ढ़ाई रुपये में कुरता भी आ जाता, पर मैं तो एक रुपया उधार करके डिमास का जम्पर सिलने दे आया हूं। अरे अब लेना ही ठहरा तो बढ़िया माल क्यों न लें।"

"तो मखमल का लहंगा सिला दे न। क्या बाजार में मखमल नहीं बिक रही थी?"

"अरे बुआ! तुम भी चहकी" बिसेसर ने उठते हुए कहा! क्या नहीं है बाजार में? गांठ मे पैसा होना चाहिए। बिलायत की मेम तक खरीदी जा सकती है। एक-एक दूकान पर वो-वो बढ़िया किनारे की धोती साड़ी लटक रही है कि देखते रह जाओगी। अच्छा, तारीफ नहीं करोगी कि मोतियों के बीच में हीरा चुन लाया। जब तेरी ये बहू पहनेगी तो चमक उठेगी। क्यों मौसी।"

मौसी ने जल-भुनकर कहा—"चमकेगी क्यों नहीं? इतनी पतली साड़ी में तो अंग-अंग चमकेगा। अच्छा तो है, टोले पड़ोस में सभी को बहू के दर्शन हो जायेंगे।"

"तू भी मौसी बस यूं ही रही। बाल सफेद हो गये, पर अकल नहीं आई अरी बाबू लोगों की घर वाली तो नित रोज इकलाई ही पहनती हैं। क्या वे नंगी दीखे हैं? क्या नाम उसका...पेटीकोट...हां, यही तो दो गज लट्ठे में सिल जायेगा। दो आने गज का लट्ठा ले लेना उस दुर्गा बजाज से, जो फेरी करने आता है। और लाला जी की बहू से मसीन करा दूंगा।'

मौसी मुंह में ही बड़बड़ाती हुई उठ कर बाहर चली गयी। पड़ोस में चार घर कह कर जी का दुख निकल जाता है न। बुआ भी रमजू की बीमारी घर वाली को देखने जाने का बहाना करके चल पड़ीं। कपड़े पर इतनी पैसे की बरबादी दोनों वृद्धाओं को असह्य हो रही थी। गहने पर रुपया खर्चना तो उनकी समझ में आता था क्योंकि गहने ही तो उनका वह समस्त आधार होते हैं जिस पर गरीबों के अधिकांश काम हो जाते हैं। बेरोजगारी में उन्हें ही आधे दामों में बेंच कर पेट की समस्या हल होती है। बीमारी हारी में उनको ही गिरवी रख कर दवा-दारू दूध का इन्तजाम होता है। यही नहीं मरने पर कफन काठी के लिए गहने ही अन्तिम सहारा होते हैं। चांदी के वे चन्द गहने जो तन पेट में रूखा-सूखा खा पहन कर बनवा लिये जाते हैं, मौसी की समझ में वही पेट भर का सिंगार और भूखे का आधार होते हैं।

पर इन नई रोशनी के छोकरों को वह क्या कहें। उस दिन वह गई रात तक पड़ोस में अपने घर की इकलाई के फैशन की चर्चा करती रहीं। और पहनने उस उतने अरमानों की इकलाई को जब पहले-पहल सुनिया ने पहिना था तो उसकी समस्त देह में गुलाब खिल उठे थे। और विसेसर ने मन में सोचा कि अब आगे से इसे इकलाई ही पहनाऊँगा।

पर दोबारा इकलाई पहनाने की नौबत नहीं आई। क्योंकि इस बीच विसेसर बीमार पड़ गया। और एक लड़की का बाप भी बना। दोनों ही खर्चे इतने भारी थे कि सुनिया के कपड़े, परिबन्द और लच्छे गिरवी रख कर ही पार पाया।

विसेसर ने अपने जान अच्छे होकर जी तोड़ मेहनत करी। यही नहीं, सुनिया भी, जो कभी आस पास के बड़े घरों में कूटना पीसना मिल जाता तो कूटती। पर ये सात समुन्दर पार जो कहीं जर्मनी वाले से लड़ाई छिड़ गई थी, इससे महंगाई जो बढ़ी तो कहीं रुकने का नाम न लेती थी।

कर्जा उतार कर चीजें छुड़ाने में दो बरस लग गये। तिस पर बाजार में कभी गेहूँ गायब हो जाता, तो कभी मिट्टी का तेल। और तो और एक बार नमक और रेजगारी तक मिलनी बन्द हो गई थीं। मजूरी में बढ़ती न हुई। सो बात नहीं। पर मजूरी में अगर रुपये में चवन्नी बढ़ी, तो चीजें अठगुनी दसगुनी चढ़ गई थीं।

सुनिया हैरान होकर पूछती—'क्यों जी, क्या मिट्टी का तेल भी लड़ाई पर जा रहा है?" चीनी भी? कोयला लकड़ी भी?"

विसेसर पढ़ा नहीं तो क्या, शहर के सभी लोगों की उड़ती-उड़ती बातें तो सुनता है। पत्नी के भोलेपन पर हंस कर कहता—"तू भी बस यूं ही है। अरी सिपाहियों को क्या वहां कुछ नहीं चाहिए। अब तो सबुर कर के दिन काट। जब लड़ाई बन्द होतो चीनी खाइयो। दीये जलाइयो।

और सुनिया बड़े सब्र से सालों के अंधेरे में रोटी करती रही। कभी बाजार से भूख बुझाई, कभी बाल बच्चों को शकरकन्द उबाल कर ही पेट का आधार कराया। हे भगवान्, लड़ाई बन्द हो जाये तो वह महावीर जी को सवा सेर

का रोट चढ़ावेगी। बात यह है कि और देवता तो घी का पकवान मांगते हैं पर महावीर जी को तेल का रोट चढ़ा कर भी काम चल जायगा।

इकलाई बहुत सम्हाल-सम्हाल कर पहिनने पर भी फटने लगी। कई बार बिसेसर पांच-सात रुपये तक जेब में डाल कर वैसी साड़ी लेने के लिए बाजार गया। पर दूकानों पर तो उसने वैसे कपड़े किनारे की झलक भी न देखी। हां, सुनिया ने उसे बताया जरूर कि लाला दीपचन्द की बहू अब भी वैसी इकलाई पहनती है। पर उन्नीस रुपये की एक मंगाई है। "उनका क्या राजा आदमी हैं।" बिसेसर ने कहा—"लड़ाई खतम हो तो जरा सस्ता होने पर एक बार इकट्ठी ही चार-पांच इकलाई ले दूंगा।" सुनिया भी आश्वस्त हो कर कहती "हां जी, बिटिया भी सयानी हो गई। एक दो कपड़ा उसके लिए भी तो रखना होगा।"

आज सुनिया की लड़की की सगाई होने वाली है। नौ बरस की बिटिया उनकी दृष्टि में बहुत बड़ी हो गई है। महीना पहले से ब्लैक से जो मटर खाकर वह राशन का गेहूँ बचा कर रखती रही है। चीनी भी इकट्ठी कर ली है। घी तो खैर असली मिल ही नहीं सकता, इसका उसे ध्रुव विश्वास है। इसी से डालडा लेने तक के लिये भी लाइन में खड़ा होना पड़ता है। परसों मौसी तीन घण्टा धूप में तप कर कहीं ला पाई हैं। बढ़िया चावल तो ढूंढ़ने पर भी कहीं नहीं मिला। वही राशन का मोटा अरवा चावल ही मेहमानों को खिलाना होगा। पर मुसीबत है कपड़े की। कपड़ा तो जैसे सपना हो गया है। सुनिया बेचारी तो समझ ही नहीं पाती कि वे अच्छे दिन कहां चले गए, जब गांठ में पैसा होने से दुनिया भर की चीजें आ जाती थीं। लड़ाई बन्द हो गई। सुराज भी मिल गया। नेंहरू जी राजा भी हो गए पर महंगाई रत्ती भर भी नहीं घटी। कपड़ा तो महंगा सस्ता कैसा भी नहीं मिलता। भला समधी के सामने वह ब्याह का जोड़ा पहने भली लगेगी? नहीं जी, वैसे भी हो एक किनारदार अच्छी धोती तो मंगानी ही पड़ेगी। एक धोती के लिए इससे अधिक दामों की कल्पना सुनिया कदाचित् सात जन्म भी नहीं कर सकती। उसने अपनी गोलक तोड़ी। उसमें सोलह रुपये सात आने निकले।

जैसे कलेजे के टुकड़े अपने हाथों बिसेसर को सौंप रही हो, उसी तरह वे रुपये उसके हाथों में रखती हुई वह बोली—"देखो जी! जैसे भी हो एक धोती जरूर ले आना।"

बिसेसर क्या चाहता नहीं कि सुनिया अच्छा कपड़ा पहिने?

आज ही कंट्रोल से कपड़ा मिलने की खबर है। वहां अच्छी इकलाई तो क्या मिलेगी। पर जो भी मिले, ले आवेगा। अगर मरदानी धोती मिल गई तो वही सही। पुरानी किनारी उसी पर टांक लेगी, रंग लेने पर सब ऐब ढंक जायेगा।

दोपहर में मेहमान लोग आ गये। बिसेसर कपड़ा लेने गया था। सुनिया मोटी मैली धोती पहिने कोठरी में दुबकी रही। बस मौसी ही ने हुक्के तमाखू और शर्बत पानी देने का जिम्मा ले रखा था।

बिरादरी के पांच-छः बजे तक आ जायंगे। सुनिया ने कोठरी में ही धुयें और गर्मी से झुलसते हुए पूरियां, पुये-कचौड़ी सब कुछ बनाया है। रह-रह कर छप्पर की ओर ताकती कि शायद बिसेसर साड़ी ले कर आता होगा।

पांच बजे पसीनें से तर, धूप में दिन भर खड़े रहने से काला पड़ा चेहरा लिये बिसेसर लौटा कन्ट्रोल की दूकान से। पांच गज मोटी मारकीन और चार गज पतला डोरिया मिला था।

अन्दर जा कर बन्डल पत्नी के हाथों में रख दिया।

सुनिया ने आटा सने हाथों से ही बन्डल खोल डाला।

"और साड़ी?" उसने मारकीन की तहें अच्छी तरह टटोल कर पूछा।

"बस बस साड़ी वाड़ी यही है। सारे दिन लैन में खड़े होकर नहीं मिला है। इसी मारकीन पर टाट की किनारी जड़ कर पहन लीजो।" बिसेसर ने जले स्वर में उत्तर दिया।

"अरे तो क्या पन्द्रह रुपये में भी इकलाई नहीं मिली? लड़ाई खतम हुए भी सालों हो गये।"

"लड़ाई साली क्या करेगी...बिसेसर फूट पड़ा"—जब तक इन चोर बाजारी करने और काला मुनाफा करने वालों का सत्यानाश न होगा,

कोई चीज भी मिलनी कठिन है। जानती है बाजार में किसी ने भी सूती बढ़िया इकलाई होने की हामी ही नहीं भरी।...

भला मजूर के मैले-फटे कपड़े क्या इकलाई खरीद सकते हैं? एक सूरजमल ने बहुत चिरौरी करने पर कहीं भीतर से ला कर दिखाई भी तो दाम जानती है क्या मांगे! इक्कीस रुपये। इन दामों माल न बिके तो भी उनकी बला से। चोर बाजारीकी कमाई थोड़ी कर ली है उन्होंने।" सुनिया तब रुआंसी हो कर कपड़े रखने चली। लकड़ी का बक्स खोल कर उस पुरानी किनारी को हसरत से टाक कर उसने मारकीन उसी में रख दी। और पुराने ब्याह के लहंगे की तहें खोलने लगी।